प्राणों की प्यास

پرانوں کی پیاس

by
مدھولکا

(novel)

मधुलिका

राजहंस प्रकाशन
रुई मण्डी, सदर बाजार, दिल्ली-६

प्रकाशक—

राजहंस प्रकाशन,

रुई मण्डी, सदर बाजार,

दिल्ली-६ ।

मूल्य : ३ रुपए ५० न.प.

* * *

* * *

प्रथमावृत्ति—सितम्बर, १९६०

मुद्रक—

अमरचन्द्र जैन,

राजहंस प्रेस,

रुई मण्डी, सदर बाजार,

दिल्ली-६ ।

कथा के काल्पनिक स्थान,
पात्र एवं घटनाएँ यदि कहीं
यथार्थ से मेल खा जाएँ
तो वह संयोगवश ही है।
लेखिका का उसके प्रति कोई
उत्तरदायित्व नहीं होगा।

हिन्दू दर्शन कहता है—

शरीर नश्वर है !

क्षण-भंगुर है !!

लेकिन मुझे इस बात पर कैसे भी विश्वास नहीं होता !

मुझे तो लगता है—

प्रमियों के शरीर कभी नहीं मिटते !

बस ! रूप भर बदल जाता है !

—ग्रीष्म की दुपहरियों में उठते बबंडर, क्या उन्हीं के तप्त उच्छ्वास नहीं है ?

—आँधी में आकाश पर छा जाने वाले धूलि-कण, क्या उन्हीं के असंख्य रूप नहीं हैं ?

—आकाश के झपकते तारों में, क्या उन्हीं प्रेमी-हृदयों के स्पन्दन नहीं हैं ?

—कौंधती बिजली में उन्हीं की तड़प, और उमड़ते काले बादलों में, क्या उन्हीं के महा-मिलन का अह्लाद नहीं है ?

और—

हिन्दू दर्शन कहता है—

शरीर नश्वर है !

क्षण-भंगुर है !!

लेकिन मुझे इस बात पर कैसे भी विश्वास नहीं होता !

—दीपदान

विनाश की तूफानी लहरों द्वारा फेंकी गई !

आँख खुलने पर—

जिनकी गोद में अपने को पाया था—

उन्हीं अपने श्रद्धेय चाचा—

श्री गोपालराव कुन्डाजी को ।

—लेखिका

दो शब्द !

अपने इस नए उपन्यास में जब इतने शब्द लिख दिए हैं तब दो शब्द लिख कर कौन-सी नई बात कहूँगी ? जो कहना था सो तो कह ही चुकी हूँ।

द्वार पर आए अतिथि के सत्कार में घर के द्वार पर अल्पनाएँ बनाई जाती हैं।

फूल बिखेरे जाते है। मंगल कलश सजाए जाते हैं। देहरी पर आगत पैर रखता है तो हम दबे स्वर में 'आइये' कहकर एक ओर हट जाते हैं।

वही मैं कर रही हूँ। पर 'आइए' कहने से पहले एक दूसरी बात कहने को भी मन कर रहा है।

सुनिये ! मेरे इस छोटे से घर में किसी बड़े कलाकार का न वैभव है, न सुप्रसिद्धि की जगमगाहट ! मैं अकेली हूँ—नितान्त एकाकी ! आँखों को चकाचौंध कर देने वाली बिजली यहाँ तक अभी नहीं पहुँची है। एक-दूसरे के चेहरे देखने भर के लिए मेरे पास मात्र एक टिमटिमाता दीपदान है।

मेरे क्लेश की—दर्द के इस दीपदान की उजियारी में यदि मेरे अतिथि और मैं एक-दूसरे को पहचान पाएँ तो समझूँगी कि उजीता चाहे कितना ही धीमा हो पर ले जाएगा मुक्ति की ओर !

मुक्ति—

मन की कुंठाओं से !

लालसा की गुंजलक से !!

प्राणों की प्यास से !!

बस, यही कहना था।

आइए !

—मधूलिका

१

सुजाता की गाड़ी जब दिल्ली स्टेशन पर पहुँची तो रात के साढ़े बारह बज गये थे। पहले तो उसने सोचा कि इस समय वह अपनी दीदी के यहाँ न जायेगी। आधी रात के समय कहाँ घरों के दरवाजों पर मकान नम्बर पढ़ती फिरेगी। लेकिन यह विचार थोड़ी ही देर में मिट गया। अपनी दीदी की बीमारी की बात सोच-सोच कर उसका मन करने लगा कि कैसे भी इसी समय वहाँ पहुँच जाए। कुली को जब उसने दीदी के मुहल्ले का नाम बताया तो सुजाता को लगा कि उस कुली के चेहरे पर एक अजीब-सी मुस्कराहट फैल गई है पर उसने उस ओर ध्यान नहीं दिया। उसे अपनी दीदी के पास अभी पहुँचना है। इतना उसके पास समय नहीं है कि किसी ऐरे-गैरे के हँसने-मुस्काने के अर्थ निकाले।

स्टेशन से बाहर जब आई तो ताँगे वाले से उस मुहल्ले में चलने के लिए कहा। न जाने क्यों वह ताँगे वाला भी एक अर्थपूर्ण मुस्कान बिखेरता बोला—"बैठिये बीबीजी अभी पहुँचाए देता हूँ।"

इस तरह मुस्कराने वाले उस ताँगे वाले के ताँगे पर बैठते समय पहले तो वह झिझकी पर तुरन्त ही उसे ध्यान आया कि न कोई मुस्कराता है, न कोई हँसता है। यह सब उसके मन की बीमारी है। असल में बात यह है कि माँ और बापू ने उसकी दीदी के लिए ऐसी-ऐसी बातें उससे कही हैं कि जिनको अपनी जीभ से दुहराते, याद करते हुए भी मारे शर्म के वह गढ़ जाती है।

ऐसी ही न जाने कितनी, कैसी बातें सोचती विचारती वह ताँगे पर बैठी चली जा रही थी। भारत की इस राजधानी में वह पहली ही बार आई है। चौड़ी खुली सड़कों पर दौड़ता ताँगा एक गली के सामने जाकर रुक गया।

ताँगे वाले ने ताँगा रोक कर उधर गश्त लगाते पुलिस के सिपाही से पूछा—"जमादार साब ! यह इक्कीस बटा पचहत्तर किधर है ?"

उस सिपाही ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह धीरे-धीरे पग बढ़ाता ताँगे के पास आया और बड़ी बेअदबी से ताँगे में बैठी सवारी को देखा फिर बोला—"इसी गली में आखिरी मकान है।"

इस बार भी सुजाता ने यही सोचा कि यह सब उसके मन का फितूर ही है। सिपाही ने उसे इस तरह नहीं देखा था। आधी रात के समय अकेली ताँगे में बैठी लड़की को देखने की वह मात्र जिज्ञासा थी और कुछ नहीं।

गली के छोर पर जाकर सुजाता ने देखा, सामने के मकान पर बड़े काले अक्षरों में मकान का नम्बर लिखा है। यह वही नम्बर है जो उसकी दीदी ने अपनी चिट्ठी में अम्मा को लिख कर भेजा है।

सामान उतार कर ताँगे वाले ने पैसे लिए और ताँगा मोड़ कर चला गया।

सुजाता ने सहमती नजरों से इधर-उधर देखा। चारों ओर सन्नाटा था। एक दो मकान की ऊपर वाली मंजिलों में कहीं-कहीं बिजली की बत्ती जल रही थी।

सुजाता अटेची हाथ में लिए कुछ देर उस द्वार पर खड़ी जाने कैसी-कैसी बातें सोचती रही फिर धीरे से उसने कुंडा खटखटाया।

थोड़ी देर में उसके कानों ने सुना कि कोई सीढ़ी उतरता नीचे की ओर आ रहा है। किवाड़ खुले और उसने देखा कि एक दाढ़ी मूँछ वाला बूढ़ा अपनी ऐनक सम्भालता सामने खड़ा है।

उसने गौर से कई बार उस आगन्तुका को देखा फिर काँपती आवाज में बोला—"किससे मिलना है तुम्हें ?"

सुजाता ने धीरे से कहा—"यहाँ कोई मायाजी रहती हैं ?"

सुनकर उसने बड़ी लापरवाही से कहा—"हाँ, रहती है। आ जाओ।"

इस 'रहती' को सुनकर पहले तो सुजाता का माथा ठनका फिर उस बात को भी अपने मन का विकार मानकर वह उस बूढ़े के पीछे धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़ने लगी।

ऊपर छत पर जाकर उसे लगा जैसे वह घर नहीं कोई कबूतरखाना है जिसमें बीसियों दरबे हैं।

उस बूढ़े ने एक कमरे के सामने उसे लाकर खड़ा कर दिया। और बोला—"यहीं रहती है। आवाज लगा।"

उसके कहने का ढंग इतना बेहूदा था कि सुजाता के तन-बदन में आग लग गई पर उसने कहा कुछ नहीं। धीरे से उस कुंडे को खटखटाया।

तभी एक धीमी-काँपती आवाज आई—"अरी कौन है ? दरवाजा खुला है। आ जा।"

यह सुनकर सुजाता ने काँपते हाथों से दरवाजे को खोलने के लिए जोर लगाया। द्वार खुला और उसने देखा कि एक हड्डियों का ढाँचा

सामने ही एक चारपाई पर पड़ा है ।

सुजाता ने विगत बारह सालों से अपनी दीदी को नहीं देखा है। तब वह सात बरस की थी । छुटपने से जिस चेहरे को वह याद करती आ रही है उसकी छाया तो उस चेहरे पर है पर चेहरा मिट गया है। उस चेहरे को देख कर सुजाता का मन चाहा कि एक बार फूट कर रो ले पर जैसे-तैसे उसने अपने आपको सँभाल लिया।

अटेची एक ओर रख कर वह उस बीमार दीदी के बिछौने पर धीमे से बैठ गई । तभी दीदी बोली—"सुजाता ! तू सचमुच आ गई है या मैं सपना देख रही हूँ?" कहकर वे चुप हो गईं । बड़ी देर तक अपनी बड़ी-बड़ी निस्तेज पुतलियों से सुजाता की ओर देखती रहीं । तभी सुजाता ने देखा कि उन सूखी पुतलियों पर कुछ स्निग्ध सा तैरने लगा है। धीमे-धीमे उन पुतलियों के किनारे भर आये और वे पुतलियाँ आँसुओं में डूब गईं ।

बड़ी देर तक वे दोनों बहनें चुपचाप बैठी रहीं। तब माया ने धीमे से कमरे के दरवाजे को बन्द करने के लिए इशारा किया। सुजाता ने साँकल बन्द कर दी ।

उसकी दीदी ने जो पहली ही बात कही उसे सुनकर मारे भय और ग्लानि के सुजाता का रोम-रोम काँप गया। उसका कंठ सूख गया। वह संत्रस्त आँखों से कमरे में इधर-उधर देखने लगी ।

उसकी दीदी ने कहा था—"सुजाता ! तू यहाँ क्यों आई ? अम्मा ने तुझे अकेला कैसे भेज दिया ? मैंने तो सब साफ लिख दिया था ।"

बड़ी देर तक सुजाता उस कमरे की एक-एक चीज देखती रही। उस कमरे की एक-एक चीज में दुःख-दारिद्रय था । दीवालों पर सिनेमा की तारिकाओं के नंगे अधनंगे चित्र थे ।

तभी उसकी आँखों ने जो फोटो देखी सो देखते ही मारे लाज के उसके कान लाल हो गये। उसने अपनी दोनों आँखें अपने ही हाथों से बन्द कर लीं । वह कैसे भी समझ नहीं पा रही है कि नर-नारी के ऐसे घिनौने

चित्र दीदी के कमरे में क्यों लगे हैं ?

तभी उसके कानों ने सुना। उसकी दीदी कह रही थीं—"सुजाता ! अच्छा किया तुम आ गई ! इन बारह सालों में कोई दिन याद नहीं आता कि जिस दिन मैंने तुम्हें याद नहीं किया। और जब से बीमार हुई हूँ तब से तो लगता है कि जैसे मेरे प्राण बिना तुम्हें एक बार देखे इस धरती से जाना ही नहीं चाहते। लेकिन सुजाता ! यहाँ इस घर में इन्सान नहीं राक्षस रहते हैं। अभी अगर उन्हें पता चल जाये कि तुम यहाँ हो तो तुम्हें निगल जाने के लिए सारे के सारे तुम्हारे चारों ओर घिर आएँ।" कह कर थोड़ी देर चुप रही फिर बोली—"मेरी रानी ! तू सुबह उजेला होने से पहले ही निकल जाना। उस बक्स में कुछ कागज हैं उन्हें भी साथ ले जाना।"

सहसा दोनों के कानों ने सुना कि बाहर से किसी ने कुँडा बन्द कर दिया है। कुँडा बन्द होने की आवाज सुनकर माया का चेहरा एकदम सफेद पड़ गया। उसकी आँखों में ऐसा भय उमड़ आया जैसे उसके सामने साक्षात काल देवता आ खड़े हुए हैं।

बड़ी देर तक माया अपनी छोटी बहन को फटी संत्रस्त आँखों से देखती रही फिर काँपते-स्वर में बोली—"सुजाता ! अब क्या होगा ? उन लोगों को तुम्हारा पता चल गया है।" कहते-कहते वह रो पड़ी। रोते-रोते ही बोली—"अब तू यहाँ से कभी नहीं जा सकेगी ·······सुजाता तूने यह क्या किया ? क्यों आई ? क्यों ·········।"

कहते-कहते उनका सारा बदन एकाएक कड़ा पड़ गया फिर जोर से एक हिचकी दो हिचकी और धीमे-धीमे उन हिचकियों का वेग बढ़ने लगा। हर हिचकी के साथ लगता था कि अब दूसरी हिचकी आने से पहले ही उनका प्राणान्त हो जायेगा पर वह मरी नहीं। कोई आधे घंटे तक उसी तरह लम्बी हिचकी आती रही। जब हिचकी बन्द हुई तो बड़ी देर तक बेहोश पड़ी रहीं। जब होश आया तो धीमे स्वर में बोलीं—"सुजाता !" कहते-कहते उन्होंने अपने दोनों हाथ उसके गलेमें डाल दिये।

वे कुछ कहना चाहती थीं पर कैसे भी कह नहीं पाती थीं। होंठ काँपते थे और दाँतों के बीच जीभ काँप कर रह जाती थी। कुछ देर तो ऐसे ही बीत गयी और तब सुजाता ने देखा कि वे हाथ जो उसके गले में पड़े थे, कड़े होते जा रहे हैं और वे पुतलियाँ जो उसे देख रही थीं अब धीरे-धीरे बुझ गई हैं। जीभ का अगला हिस्सा दाँतों के नीचे ज्यों का त्यों दबा रह गया।

सुजाता ने इस तरह प्राणान्त होते कभी नहीं देखा था। उसके कंठ से मारे दुःख और भय के एक हल्की चीख-सी निकल गई। तभी उसके कानों ने उस कमरे के बाहर किसी के पैरों की आवाज सुनी। द्वार का कुंडा खुलते सुना।

सुजाता ने सुना। कोई भारी स्वर में बाहर खड़ा कह रहा है—"अरे पंछी दरवाजा खोल दे।"

सुजाता मारे भय के काँपती अन्दर ही बैठी रही। तभी उसने बाहर का क्रुद्ध स्वर सुना—"दरवाजा खोल नहीं तो तोड़ डालूंगा।"

सुजाता ने दरवाजा नहीं खोला। वह मारे भय के काँपती-भयभीत आँखों से दरवाजे की ओर देखे जा रही थी। उसकी आँखों ने देखा कि द्वार का एक किवाड़ अपनी जगह से हट गया है और बिजली की रोशनी में उसने एक भयानक आदमी को अन्दर आते हुए देखा। वह एकाएक चीख पड़ी और उस चीख के साथ ही बेहोश हो गई।

* *

जब उसकी आँखें खुलीं, होश आया। तो देखा कि उसकी दीदी का मृत शरीर वहाँ नहीं है। वह दौड़ कर दरवाजे के पास गई। उसे खोलने की कोशिश की पर वह बाहर से बन्द था।

वह हताश-सी फर्श पर आ पड़ी। मन ही मन सोचने लगी—"माँ और बापू से बिना कुछ कहे-सुने क्यों यहाँ चली आई? दीदी ने अपनी प्राणान्तक बीमारी की बात लिखी थी। अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगी थी। क्या अम्मा और बापू की ही बात सच थी। पर दीदी ने अपना

ऐसा जीवन क्यों बिताया ? उसे बचपन के कितने चित्र याद हो आये। एक उभरता—धुंधल होता और उस धुंधले चित्र में से ही दूसरा चित्र उभर आता है।

सुजाता ने देखा—वह अपनी दीदी के पीछे-पीछे दौड़ी जा रही है। दीदी सुबह के प्रकाश से पूर्व के धुँधलके में रोज मंदिर जाती थीं। वहाँ घंटों आँखें मूंदे बैठी रहती थीं। माँ इतने सुबह मन्दिर में जाने के लिए मना करती थीं। दीदी नहीं मानती थीं। माँ डाटती थीं। दीदी रोती थीं। बापू ने इसी बात को लेकर उन्हें पीटा था। दीदी ने कई दिन तक खाना नहीं खाया था। बापू ने माफी माँगी थी। अम्मा रोई थीं तब दीदी कभी अकेली कभी उसे साथ लेकर मंदिर जाती थीं।

फिर एक दिन ....दीदी नहीं लौटी थीं..........कई दिनों तक इस बात को छिपाया गया था। मुहल्ले के लोग आये थे। पूछ-ताछ हुई थी। अम्मा बापू ने बताया था कि वह पढ़ने के लिए ननहाल चली गई है।

थोड़े वर्षों बाद मुहल्ले के लोगों ने अम्मा बापू के कान दीदी के खिलाफ भरे थे और उसके चारों ओर माँ बाप का पहरा कड़ा हो गया था।

तब अन्त में एक ही बात सुजाता कई तरह से सोचे जा रही थी—भगवान् ! मेरे जीवन के साथ ऐसा खेल, खेल कर तुम्हें क्या मिल गया ? अपने ही हाथ के बनाए खिलौनों के साथ ऐसे घिनौने खेल क्यों खेलते हो ? अम्मा और बापू के उस कड़े पहरे को तोड़ कर तुमने मुझे भी इस नरक में क्यों फैंक दिया ?

"This is a good novel." "Ashok"

कुछ देर सुजाता जहाँ की
तहाँ बैठी अपने भाग्य को,
भगवान् को कोसती रही फिर
उठी और उस कमरे को इस तरह
देखने लगी कि कैसे भी उस अचानक
मिले बन्दीगृह से मुक्ति पा जाए। उसने एक
दीवाल पर देखा कि छोटा-सा नीले रंग का
पर्दा टंगा है। सुजाता ने दौड़कर उस पर्दे को हटाया। उसके पीछे एक
खिड़की थी। खिड़की खोलते-
खोलते ही उसने निश्चय कर
लिया कि साड़ियाँ-कपड़े बाँध कर
२ वह खिड़की से नीचे उतर जाएगी और
दूसरे ही क्षण इस कारागृह से मुक्ति!
उसने काँपती अँगुलियों से उस खिड़की को
खोला। अभी बाहर रात का अँधेरा था पर उस
खिड़की को खोलते ही उसे लगा जैसे उसका दुर्भाग्य खिड़की में लोहे की
सलाखें बनकर सामने आ खड़ा हुआ है। उसने अपनी पतली अँगुलियों से

लोहे की उन काली सलाखों को हिलाने डुलाने की कोशिश की पर वे जहाँ की तहाँ स्थिर रहीं। जरा भी इधर से उधर टस से मस नहीं हुईं। वहाँ से हट कर उसने चारों दीवालों को देख डाला कि कहीं भी, कैसे भी बाहर निकल भागने का मार्ग मिल जाए पर पिंजड़े की बुलबुल का सय्याद उससे कम समझदार नहीं था।

सहसा उसके कानों में उसी भारी कंठ का स्वर सुनाई पड़ा। वह कमरे से बाहर किसी से कह रहा था, "देख मिन्नी ! जब तक मैं न लौटूं तुझे इस नई चिड़िया की देख-भाल करनी है अगर निकल गई, मर-मरा गई तो तेरी हड्डियों पर से जिन्दा गोश्त उतारूँगा।"

उसके उत्तर में किसी नारी कंठ ने कहा—"नहीं मालिक ऐसा नहीं होगा। भरोसा रखिए।"

तभी वह दरवाजा खुला और उस आदमी के साथ दुबली-पतली साँवले रंग की एक औरत सामने आ खड़ी हुई।

आदमी चला गया और औरत ने अन्दर से कुंडा बन्द कर लिया।

कुछ देर उस कमरे में सन्नाटा रहा। अन्त में वही औरत बोली, "मायादेवी तुम्हारी कौन थीं ?"

सुजाता ने एक बार उसकी ओर जलती निगाह से देखा और फिर झुंझलाहट में अपनी ही अँगुलियाँ तोड़ने मरोड़ने लगी।

बीच ही में वह औरत बोली—"देखिए अब गुस्सा करने या झुंझलाने से कुछ नहीं होगा। मुझे यहाँ बहुत समय हो गया है। इस बीच न जाने कितनी लड़कियों ने यहाँ से भागने की कोशिश की है पर सब जाकर फिर लौट आई हैं। लौटने पर उनके साथ इस नूरमुहम्मद ने जैसे जुल्म किये हैं सो सुनकर ही तुम्हें गश आ जाएगा।" कहते-कहते वह सुजाता के नजदीक आ गई। कान के पास आकर बोली—"वह आज ही तुम्हें किसी ऑफीसर के पास ले जाएगा। ऑफीसर एक रात के एक हजार तक दे देते हैं। जब आई थी तब मुझे एक रात के दो सौ मिलते थे अब पचास मिलते हैं। कई बार मैंने चाहा पर यही सोच कर

यहां से नहीं भागी कि भाग भी जाऊँ तो बाहर मेरा कहां ठिकाना है ? लेकिन ....।"

बीच ही में सुजाता बोली—"तुम्हारे मुंह से बदबू किस चीज की आती है ?"

"शराब की।"

"तुम शराब पीती हो ?"

"अगर पीऊँ नहीं तो अपने इस शरीर को कैसे नुचवापाऊं ? एक ऑफीसर रात के नौ बजे आया था अभी उठकर गया है। रात भर एक मिनिट के लिए चैन नहीं लेने दिया।"

सुनकर सुजाता के रोंगटे खड़े हो गए। वह हक्की बक्की-सी उस औरत को देखे जा रही थी।

तभी वह बोली—"मायादेवी तुम्हें बहुत प्यार करतीं थीं। तुम उनकी छोटी बहन ही हो न ?"

उसकी बातें सुनकर सुजाता को लगा कि उसकी पहरेदार औरत खुद मुसीबत में पड़ी औरत है। इससे गुस्सा होकर क्या होगा ? इससे मिलकर ही यहां से भाग निकलने की बात क्यों न सोचे ?

वह बोली—"उस दिन तुम्हारी अम्मी को जो चिट्ठी लिखी थी वह मैंने ही डलवाई थी। नीचे होटल का एक छोकरा है। वह चिट्ठी लेटर-बक्स में डलवाई के चार आने लेता है।"

सुनकर सुजाता बोली—"तो तुम मेरा एक काम करवा सकती हो ?"

"क्या ?"

"एक चिट्ठी मैं लिख देती हूँ तुम लेटर-बॉक्स में डलवा दो।"

"किस को लिखोगी ?"

"अपनी अम्मा को ?"

"उससे क्या होगा ?"

"बापू आकर मुझे छुड़ा ले जाएंगे ?"

"हाय राम ! कितनी भोली हो। यहाँ से ऐसी चिट्ठियाँ न जाने कितनी लड़कियों ने लिखीं पर कभी उन्हें छुड़ाने कोई बाप या रिश्तेदार नहीं आया।"

"क्यों ?"

"आकर क्या करें ? यहाँ से निकली—लड़की का वे करेंगे क्या ? यहाँ से निकाल कर तो अपने पैर में अपने आप ही कुल्हाड़ी मारनी है। अपने हाथ से ही अपनी नाक काटनी है। अख़बारों में माँ बाप का नाम छपेगा। सारा संसार जानेगा कि किस खानदान की लड़की चकलेघर से निकाली गई। एक के पीछे अपने सारे खानदान का नाश कौन कराएगा?

उसकी बातें सुनकर सुजाता को लगा जैसे अचानक वह ऐसे गहरे अंधेरे खन्दक में जा पड़ी है कि अब कभी उससे बाहर आने की कोई उम्मीद नहीं है। बस अब सारी जिन्दगी उसे इन्हीं लोगों में बितानी होगी।

सोचते-सोचते वह जहाँ की तहाँ औंधी पड़ गई। बड़ी देर तक वैसी ही लेटी रही। फिर कुछ सोचकर बोली—"अच्छा अभी मैं जीना उतर कर बाहर सड़क पर निकल जाऊँ तो मुझे कौन रोकेगा ?"

वह बोली—"सबसे पहले तो मैं रोकूंगी। अगर न रोक सकी तो शोर मचाऊँगी और एक मिनिट में यहाँ दस पन्द्रह उसके आदमी आ खड़े होंगे और अगर मैं न भी रोकूँ तो नीचे द्वार पर दो पहरेदार खड़े हैं वह मारे कोड़ों के देह की सारी खाल उधेड़कर रख देंगे। सच, यह नूरा जैसे जुल्म करता है उससे तो मौत अच्छी है।

उसकी बातें सुनकर सुजाता धीमे कांपते स्वर में बोली—"तो फिर कुछ भी नहीं हो सकता ?"

"हो सकता है ! सिर्फ एक ही बात हो सकती है ?"

"क्या हो सकता है ? जल्दी बताओ।"

यह हो सकता है और कभी-कभी होता भी है कि किसी सेठ या ऑफीसर की निगाह पर अगर कोई लड़की चढ़ जाये तो वह दस-पांच

हजार रुपयों में खरीद लेता है। पिछले साल ही दो लड़कियाँ खरीदी गई थीं।"

सुनकर निराश सुजाता ने सिर झुका लिया। तभी वह औरत बोली—"देखो एक बात मेरी मान लेना। तुम यहाँ से भागने की कोशिश मत करना। और कोशिश करो तो इस तरह की करना कि तुम्हें इधर फिर न लौटना पड़े।"

कहते-कहते वह चुप हो गई। फिर गला साफ करके धीरे-धीरे बोली—"माया देवी मैनपुरी की थीं और तुम तो उनकी बहन हो। सब जानती हो। जब तक उनसे उठा-बैठा गया, बिना भगवान की पूजा किये उन्होंने एक घूंट पानी कंठ के नीचे नहीं उतारा। मैं शिकोहाबाद की हूँ। बचपन में हम दोनों मैनपुरी—की एक कन्या पाठशाला में पढ़े थे और देखो भाग्य की बात कि इस नरक में भी वे मेरे साथ रहीं। सच कहती हूँ बहन! जितने दिन वे मेरे साथ रहीं तुम्हारी बातें करती थकती नहीं थीं। देखो कैसी तकदीर थी कि जिसे सारे जीवन एक क्षण के लिए चैन नहीं मिला सो उसे ही मरते समय भगवान ने ऐसी चोट दी है। मरते समय उन्हीं की आँखों ने अपनी छोटी लाड़ली बहन को इस नरक कुंड में गिरते देखा।

यह सुनकर सुजाता को लगा जैसे वह औरत उसी की कोई आत्मीया है। बड़ी देर तक वह उस औरत के चेहरे की ओर देखती रही। तब उसकी ओर देखते-देखते ही सुजाता बोली—'तुमने किस कक्षा तक पढ़ा है?"

"दसवीं तक।"

"यहाँ कैसे आ गई?"

"क्या करोगी सुनकर? बड़ी लम्बी कहानी है। लोग कहते हैं कि अपने दुख की बात कहने से जी हल्का हो जाता है पर सच कहती हूँ बहन! अपनी बातें सुनाने का मेरा मन कभी नहीं करता। मैं नहीं चाहती कि कोई भी मेरी बात जाने। मैं तो सोचती हूँ—यह सब मेरे पिछले

जन्म के पापों का ही भोग है जो इस जन्म में भोगना पड़ रहा है। तुम तो मेरी छोटी बहन हो—तुम्हें क्या बताऊँ। कुछ भी बताते लाज आती है। मैं समझ नहीं पाती कि माया देवी ने यह सब कैसे सह लिया।"

बीच ही में सुजाता बोली—"नहीं, तुम मुझे सब बताओ। क्या-क्या सहना हुआ था मेरी दीदी को? मेरी दीदी यहाँ कैसे आईं? मैं सब जानना चाहती हूँ।"

"वह सब कुछ उस बक्स में लिखकर रख गई हैं। नूर मुहम्मद हिन्दी पढ़ना नहीं जानता। कई बार उनसे पूछा करता था—"क्या लिखे जा रही हो इसमें?"

तब तुम्हारी दीदी मुस्करा कर कहा करती थीं—"कुछ नहीं नूर मुहम्मद! मैं इसमें अच्छी-अच्छी ग़ज़ले लिखा करती हूँ। आज-कल आजाद भारत के ऑफीसरों ने न जाने कहाँ से ग़ज़लें सुनने का शौक चुराया है।"

सुनकर नूर मुहम्मद अपने पीले दाँत निकालकर हंस देता था।

सुजाता को सहसा याद आया कि उसके आते ही दीदी ने बक्स में रक्खे कागजों को अपने साथ ले जाने के लिए कहा था। वह उठी और बक्स खोल कर देखा कि उसमें एक मोटी कापी रक्खी है।

सुजाता ने उसे उठा लिया और लाकर पहला पृष्ठ खोला। पहले ही पृष्ठ पर लिखा था—"जीवन के अनगिनत विष-घूंट जो मुझे इस धरती पर हँस-हँस कर पीने पड़े हैं।"

तभी उन दोनों के कानों ने सुना कि द्वार के बाहर कई लोगों की पग-ध्वनि आ रही है।

वह औरत बोली—"दीदी को लोग श्मशान पर लिए जा रहे हैं। आओ एक बार और देख लें फिर कहाँ मिलेंगी देखने को।" कहते-कहते उसने वह खिड़की खोली और सुजाता दौड़ कर खिड़की के सामने जा खड़ी हुई।

सुजाता ने देखा—मामूली लाल कपड़े में लिपटी दीदी बाँस की

टिकटी पर लेटी हैं। कपड़ा इतना कम था कि माथे के बाल बिखरे दिख रहे थे। उधर आधे पैर खुले थे। सुजाता पत्थर की मूर्ति को तरह खड़ी तब तक अपनी दीदी को देखती रही जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हो गईं।

तब चुपचाप आकर दीदी के बिछौने पर बैठ गई। उस औरत की आंखों से आँसुओं की झड़ी लग गई थी। सहसा उसे न जाने क्या हुआ, वह उठी और सुजाता को अपनी छाती से चिपटा कर हिचकते-हिचकते बोली—"मैं क्या करूँ रानी तुम्हारे लिए। मैं कैसे निकालूं तुम्हें इस नरक से ? दीदी की आत्मा क्या सोच रही होगी। क्या सोच रही होगी........क्या........ ?"

कहते-कहते वह एक दम सुबक कर चुप हो गई। फिर घबराती-सी धीरे-धीरे बोली—"क्या मैं जोर-जोर से बोल रही थी ?"

कहते-कहते उसने द्वार खोला और इधर-उधर झांक कर आ बैठी। आकर बोली—"गजब हो जाता जो मेरी बात किसी ने सुन ली होती। सच मैं पागल हो गई थी। देखो कभी-कभी मुझ पर ऐसा पागलपन सवार होता है कि मैं सब कुछ भूल जाती हूँ। ऐसा कभी हो तो तुम मुझे संभाल लिया करो। मेरे मुँह पर हाथ रख कर चुप करा दिया करो। इस चिड़िया घर में कोई भी जोर से नहीं चहचहा पाता। हाँ, शराब पीकर कोई कितनो ही गालियाँ बके उसकी इजाजत है, जो जितनी गालियां दे उतनी ही उसकी इज्जत होती है।"

सुजाता बोली—"सच बताना मेरी दीदी भी शराब पीती थीं ? वे भी गालियाँ देती थीं ?"

"नहीं, इस घर में वे ही अकेली ऐसी थीं जिन्हें कभी कोई शराब नहीं पिला सका, जिनका भजन पूजन कोई नहीं रोक सका। उन्होंने साफ-साफ कह दिया था कि मैं सब कुछ सह सकती हूँ पर कोई शराब पिला नहीं सकेगा—पूजा रोक नहीं सकेगा। उनकी आँखों में कुछ ऐसा था कि नूर मुहम्मद भी उनके सामने ज्यादा नहीं आता था।

नूर मुहम्मद उनकी सब बातें जानता था पर कभी उनके सामने आकर मुंह नहीं खोलता था ?

"क्या जानता था ?"

"यही कि वह जो कुछ भी बचा-बचू पातीं थीं वह सब अनाथालयों, विधवाश्रमों को भेज देती थीं। जब से उन्हें पता चला कि दिल्ली के पास कोढ़ियों का कोई गाँव बसा है तब से वह सारा रुपया छिपा-छिपू कर वहाँ भेज देती थीं और रुपयों की रसीदें मँगवा लेती थीं।" कह कर वह उठी और सामने की दीवाल की एक ईंट निकाली। अन्दर हाथ डाल कर एक लोहे का तार निकाला। उस तार में ढेर सारी रसीदें नत्थी थीं।

सुजाता ने उन्हें पढ़ा। वे सब अनाथालयों, विधवाश्रमों और उस कोढ़ी आश्रम की रसीदें थीं। रसीदें सुजाता के हाथ में थीं और मन उड़ गया उस आत्मा के निकट जिसका शरीर कहीं किसी चिता पर जल रहा होगा। जो अब उस शरीर, उस दुनिया से मुक्त है जहाँ उसे कैसे-कैसे विष-घूंट हँस-हँस कर पीने पड़े थे।

उस औरत ने सुजाता के हाथों से रसीदों का वह तार ले लिया और बोली—"देखो ! तुम एक बात करना कि अपने चेहरे से यह बात जाहिर मत होने देना कि तुम यहाँ घबरा रही हो, कि तुम्हें यहाँ की दुनिया बुरी लग रही है। जब भी यहाँ कोई नई लड़की आती है तो चारों ओर पहरा कड़ा हो जाता है और जब वह लड़की यहाँ की जिन्दगी की आदी हो जाती है तो पहरे में ढिलाई हो जाती है। जानती हूँ तुम्हें ऐसा करने में कठिनाई होगी पर रानी कैसे भी ऐसा ही कर लो फिर मैं सोचती हूँ कि तुम्हें कैसे बाहर निकालूं।" कहते-कहते वह उठ कर खड़ी हो गई। जाते-जाते बोली—"मैं अभी आती हूँ, देखूं बाहर क्या हाल-चाल है।

थोड़ी देर बाद वह आई और बोली—"चारों ओर सख्त पहरा है। अभी इधर-उधर कोई नहीं है। तुम नहा-धो लो। तबियत हल्की हो जायेगी। आओ, चलें।"

सुजाता जब नहा-धोकर लौटी तो देखा उस औरत ने कमरे का ढंग ही बदल दिया है। सब चीजें उठाकर करीने से सजा दी हैं।

सुजाता ने जैसे ही कमरे में पैर रखा कि उस औरत ने पास आकर कहा कि नूर मुहम्मद की सिपहसालार मुटल्ली अभी आयेगी। तुम खूब घुल-मिल कर बातें करना।

वह बात पूरी भी न कर पाई थी कि वह भद्दी औरत एक छोकरे के साथ आई। छोकरे के हाथ में चाय की ट्रे थी। तश्तरियों में कुछ नमकीन रखा था।

सुजाता का ढंग देखकर वह औरत तो अचरज में पड़ गई। मुंह फाड़े सुजाता को देखती की देखती रह गई।

कुछ देर वैसे ही आंखें फाड़े देखती रही। फिर बोली—बैठो बेटी ! खड़ी क्यों रह गई।

सुजाता बिछौने पर बैठ गई। चायवाला ट्रे मेज पर रखकर चला गया।

कुछ देर उस कमरे में कोई भी न बोला—सुजाता चुपचाप चाय बनाती रही। सुजाता ने चाय बनाकर उन दोनों की ओर सरका दी। तभी वह मुटल्ली रमजानी बोली—

"बस, मुझे तो यही पसन्द है। अरे इसमें बुराई क्या है। सब का अपना-अपना रोजगार है। रोजगार में शर्म काहे की। क्यों बेटी! मैं क्या गलत कह रही हूँ ?"

सुनकर सुजाता ने मुस्करा कर कहा—"हाँ मौसी ! सच बात है। इसमें शर्म काहे की ?"

"कुछ गाना-वाना आता है बेटी ?"

"हाँ, गा लेती हूँ।"

"आजकल तो कालिज की लड़कियाँ खूब नाचती-गाती हैं। नाचती भी होगी।"

"हाँ मौसी, नाचना भी थोड़ा-बहुत जानती हूँ।"

"और कुछ कसर-वसर होगी तो हम सिखवा लेंगे। बस बेटी मैं तो एक ही बात जानती हूँ कि कुछ भी करो मन से करो। जब मैं यहाँ आई थी तब मेरे पास क्या था ? फटे हाल आई थी और अब अपनी मेहनत-मजदूरी से एक मकान अपने नाम करवा लिया। क्यों बेटी! मैं क्या गलत कहती हूँ।" कहते-कहते रमजानी चुप रही। कुछ देर कमरे में इधर-उधर देखती रही फिर बोली—"बेटी ! तुम कालिज की पढ़ी-लिखी हो। तुम्हें क्या यह कमरा पसन्द आयेगा ? न हो तो तुम मेरे पास वाले कमरे में आ जाओ। तुम जैसी लड़की के साथ मेरा मन भी बहला रहेगा।"

सुनकर सुजाता ने मिन्नी की ओर देखा। मिन्नी ने संकेत किया और उस संकेत का अर्थ समझकर सुजाता बोली—"मौसी ! थोड़े दिन मुझे अपनी दीदी के कमरे में ही रहने दो। फिर जब कहोगी मैं कमरा बदल लूंगी।"

वह बीच ही में बोली—"ठीक है ! ठीक है!! जैसी तुम्हारी मर्जी। मैं किसी की मर्जी के खिलाफ नहीं चलती। अरे मैं तो कहती हूँ तुम्हारी उम्र है खाने-पीने मौज उड़ाने की। हमारा क्या मतलब है कि तुम लोगों के बीच में अपनी टाँग अड़ायें क्यों मिन्नी ! मैं क्या गलत कहती हूँ ?"

"नहीं जी। हमारी मालकिन, जैसा सुख हम लोगों को यहाँ देती हैं वैसा तो स्वर्ग में भी नहीं होगा जी।"

सुनकर रमजानी गद्‌गद् हो आई फिर हाथ का संकेत करते-करते सुजाता को अपने निकट बुलाकर बिठा लिया। कुछ देर व्यापारी दृष्टि से उसके प्रत्येक अंग को देखती रही। फिर अपने शरीर से चिपटा कर अपना बनावटी स्नेह दिखाती उसके अंग-प्रत्यंगों को इस तरह टटोलने लगी जैसे कसाई बलि के बकरे को देखता है।

सुजाता को लग रहा था जैसे एक साथ ही सैकड़ों कनखजूरे उसके शरीर में जहाँ-तहाँ अपने विषैले पंजे चुभाये जा रहे हैं।

थोड़ी ही देर में वह कठिन परीक्षा समाप्त हुई और सुजाता ने सन्तोष की साँस ली। रमजानी गद्‌गद् कण्ठ से सुजाता को दुआएँ देती

कमरे से बाहर चली गई।

तभी मिन्नी बोली—"देखो, नूर मुहम्मद सांझ के समय लौटेगा। वह आज एक बड़े ऑफीसर को तुम्हें देगा। जो ऑफीसर आज की रात मेरे साथ रहा था। उसी से बात तय हुई है। एक हजार मिलेगा। तुम एक काम करना कि मुझे भी साथ ले जाने की जिद करना। फिर मिल कर सोचेंगे कि तुम्हें कैसे छुटकारा मिले। बस, तुम इतना करना कि किसी के सामने मन कच्चा मत करना। रात भर जागती रही हूँ। थोड़ा सो लूं फिर दोपहर को खाना लेकर आऊँगी। बोलो, घबराओगी तो नहीं—तुम कहो तो मैं यहीं एक ओर पड़ी रहूँ।"

सुजाता ने बड़े धीरज से कहा—"नहीं, नहीं, घबराने की क्या बात है। अब जब सिर पर आ ही पड़ी है तो घबराने से कैसे चलेगा ? तुम चैन से सोना। मुझे भूख नहीं है। दोपहर को खाना न लाओ तो भी कोई बात नहीं है।"

"नहीं, नहीं ऐसा कैसे हो सकता है। देखो तुम अन्दर से कुण्डा बन्द कर लेना। न जाने कब कैसा आदमी अन्दर घुस आये।"

मिन्नी कमरे से बाहर चली गई और सुजाता ने उठकर कमरे को अन्दर से बन्द कर लिया।

सुजाता इतनी देर से सब तरह की बातें कर रही थी पर प्राण उसके वहीं मँडरा रहे थे जहाँ उसकी दीदी का शरीर धू-धू कर जल रहा था।

बड़ी देर तक वह बेहोश-सी दीदी के बिस्तर पर लेटी रही फिर दीदी के कमरे की एक-एक चीज उसने अपने हाथ से छुई-टटोली। एक-एक चीज को छूकर उसे लग रहा था जैसे उस चीज के माध्यम से वह अपनी दीदी को ही छू रही है।

तब अन्त में वह बिछौने पर आई और दीदी के हाथ की लिखी उस मोटी कापी को गोद में रख कर पढ़ने लगी।

सुजाता ने पहले पृष्ठ की वही पंक्ति फिर पढ़ी—"जीवन के अनगिनत विष-घूंट जो मुझे इस धरती पर हँस-हँस कर पीने पड़े हैं।" सुजाता ने वह पृष्ठ पलट दिया। दूसरा पृष्ठ पढ़ने लगी—"लोग कहते हैं कि इस धरती पर जब तक इन्सान जिन्दा रहता है उसके मन की कामनाएँ नहीं मिटतीं पर मेरे जीवन की न जाने कितनी वर्षें बीत गईं। मुझे लग रहा है कि मेरी सब कामनाएँ मिट गई हैं। शायद इसलिए कि मैंने बचपन से जब भी कोई कामना की है तो परिणाम ठीक उसके विपरीत हुआ है। मैंने कामना की है पूर्व की ओर जाने की तो जाना पड़ा है पच्छिम की ओर। जब भी मैंने आकाश की चित्र-पटी पर कोई सुनहला सपना अंकित करना चाहा है तो मुझे वहां से उठाकर फेंक दिया गया है धरती

२

के नरक कुंड में। जहाँ सालों से कीड़ों की तरह बिजबिजा कर जीवन बिताए जा रही हूँ।

कभी सोचती हूँ कि यह कैसे कह सकती हूँ कि अब इस घिनौने जीवन में कोई भी कामना कहीं नहीं सिसक रही है। नहीं, ऐसा नहीं है। कभी-कभी तो यह सिसकती कामना ज्वालामुखी बनकर अन्दर ही अन्दर कलेजे में धधक उठती है।

चाहती हूँ एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द जो मेरे विष-घूंटों का चित्र बनाए जा रहे हैं वह किसी तरह मेरी सुजाता के हाथों तक पहुँच जाएँ।

मैं कैसे भी उसे, उसकी बातों को नहीं भुला पाती। एक दिन उसके स्कूल फीस देने गई थी। दोपहर का समय था। सुजाता तब छः वर्ष की थी। स्कूल में चमेली का पेड़ था। दोपहर की छुट्टी में नौकर ने उसे खाना नहीं पहुँचाया था। सुजाता अपनी एक नन्ही सहेली के साथ बैठी थी। सहेली खाना खा रही थी। बीच-बीच में वह उससे कुछ खा लेने की जिद कर बैठती थी पर सुजाता हाथों से चमेली के फूलों की माला गूंथे जा रही थी और ध्यान में डूबी कुछ कहे जा रही थी।

मैं उसकी पीठ पीछे जाकर चुपचाप खड़ी हो गई। वह कह रही थी—मेरी दीदी को तुम नहीं जानती। वह लड़की थोड़े ही हैं। वह तो देवी हैं। जब सवेरे मन्दिर में जाकर बैठती हैं और आँखें बन्द कर लेती हैं तब मन्दिर की गौरी से भी ज्यादा अच्छी लगती हैं।

सहेली बोली—"तू भी मन्दिर जाती है?"

"हाँ रोज, तड़के ही तड़के।"

"तू क्या करती है वहाँ?"

"बता तो रही हूँ। जब दीदी आँखें बन्द करके बैठ जाती हैं तो मैं देखती हूँ कि मन्दिर की गौरी ज्यादा सुन्दर है या मेरी दीदी।"

"मेरी दीदी तो मुझे बात-बात पर पीटती है।"

"और मेरी दीदी को पता चल जाए कि किसी ने मुझे डाँटा या

पीटा है तो वह तो शाप देकर उसे मार सकती हैं ।"

"शाप क्या होता है ?"

"होता है । देवी देवता शाप देकर दुष्टों को मार डालते हैं ।"

"तुझे किसने बताया ?"

"दीदी जब अम्मा को रामायण सुनाती हैं तब मैं चुपचाप बैठी सुनती रहती हूं । एक तो शाप होता है और वरदान भी होता है । देवी देवता वरदान देते हैं ।

"वरदान क्या करता है ?"

"वरदान मरे हुए को जिला सकता है । देवी-देवता का वरदान मिल जाए तो हम कभी मरें ही नहीं ।"

"तुम्हारी दीदी वरदान दे सकती हैं ?"

"क्यों नहीं, तू कभी आकर ले जाना ।"

"तुझे दे दिया है ?"

"हाँ, एक बार नहीं बहुत बार दे दिया है ।"

"तुझे रामजी भी नहीं मार सकते ?"

"नहीं रामजी भी नहीं ।"

ऐसी ही न जाने कितनी बातें याद कर-कर के अन्दर ही अन्दर ऐसी ज्वालाएँ उठ खड़ी होती हैं कि लगता है साँस घुटने लगी है । एक-एक साँस के लिए तड़प उठती हूँ ।

सोचती हूँ जिसे वह देवी मानकर पूजती रही है, जिसे वह रामजी से बड़ा और गोरी से अधिक सुन्दर माने बैठी है उसी का यह कुरूप देखो न ऐसी घिनौनी जिन्दगी के बारे में सुनेगी तब उसका क्या होगा । तब जो शाप वह मुझे देगी उसे लेकर न जाने ऐसे ही कितने नरक कुंडों में कितने जन्मों तक मुझे सड़ना होगा ।

मैं उसके सामने कभी भजन नहीं गाती थी । जिस दिन वह मेरे साथ मंदिर जाती थी उस दिन मैं आँखें बन्द किये अपने आराध्य के सामने बैठी रहती थी ।

कई बार मैंने देखा था कि जब भी मैं देवता के सामने भजन गाती थी तब सुजाता उठ कर बाहर चली जाती थी पर समझ नहीं पाती थी कि वह ऐसा क्यों करती है। एक दिन साँझ के समय अम्मा के पास बैठी बैठी कह रही थी। मैं आड़ से सुन रही थी—'अम्मा! तुम दीदी से एक बात कह दोगी ?"

"क्यों ? तू क्यों नहीं कहती ? तू तो उसकी बड़ी लाड़ली है।"

लजाती-सी बोली—"अम्मा मुझे शर्म आती है !"

"अच्छा बता क्या कह दूँ ?"

"दीदी से कहना वे भगवान के सामने भजन नहीं गाया करें।"

"क्यों ! तुझे क्यों बुरा लगता है।"

'पता नहीं क्यों ? मुझे दीदी का भजन सुनकर बहुत रोना छूटता है।"

सुनकर माँ खिलखिला पड़ी और मैंने देखा कि भजन की बात कहते-कहते सुजाता की आँखें गीली हो आई हैं !

उस दिन मुझे लगा कि इस धरती पर बस एक सुजाता है जो इतनी छोटी उम्र में ही मेरे मन के दर्द को पहचान गई है। इतनी गहराई से उसने पहचाना है मेरी उस पीड़ा को, कि सुर के सहारे मैं जब अपने भगवान के चरणों में निवेदन करती थी तो वह सह नहीं पाती थी। उस दिन से मैंने सुजाता के सामने कभी भजन नहीं गाया।" पढ़ते-पढ़ते सुजाता की हिचकी बँध गई। सुजाता की आँखों से बरसते आँसू कुछ देर तक दीदी के लिखे उन विष घूँटों में घुलते रहे तब आँखें पोंछ कर सुजाता फिर पढ़ने लगी—

"आह ! उस सुबह की बात क्या मैं सारे जीवन भुला पाऊँगी। चाहती हूँ कैसे भी मैं सुजाता को भूल पाऊँ। कैसे भी उसकी बातों को भूल जाऊँ। कैसे भी वे चित्र सदा-सदा के लिए मेरे मन की आँखों के सामने से मिट जाएँ जो सुजाता को लेकर क्षण-क्षण में बनते-मिटते रहते हैं।

उस सुबह को सुजाता हारी-थकी सो रही थी। उसके स्कूल में वार्षिक उत्सव था। उसमें वह नाची थी गाई थी, बड़ी देर बाद मेरे साथ लौटी थी। दिन में जाने कितने गाने-नाचने के रिहर्सल करने पड़ें होंगे।

यही सोच कर मैंने उसे नहीं जगाया था। मैं अकेले ही मंदिर चली गई थी। अकेले जाने की बात को लेकर किसी पड़ौसिन बुढ़िया ने मेरे कुचरित्र से जोड़ कर एक कहानी बनाई और माँ को आकर सुना गई। माँ ने पिताजी को सुनाई। सुनकर पिताजी मारे क्रोध के पागल हो गये। वे मंदिर आने के लिए कपड़े पहन रहे थे तभी मैंने घर की देहलीज पर पैर रक्खा।

पैर रखते ही पिताजी पागलों की तरह मुझ पर टूट पड़े। माँ मुझे बचाने दौड़ी पर उस दिन सुजाता ने जो किया सो मैं कभी नहीं भूल सकती।

सुजाता के उस नन्हें शरीर में वह आत्मा इतनी जोर से तड़पी कि उसके आर्त्त-चीत्कार को सुनकर हम सब काँप गये। जहाँ के तहाँ जैसे के तैसे रह गये।

पिताजी के हाथ की छड़ी टूट कर धरती पर जा पड़ी। माँ चुपचाप धूल ही में बैठ गईं।

मैंने दौड़ कर सुजाता को अपनी गोद में उठा लिया। वह नन्हा शरीर अपनी बाहें मेरे गले में उलझा कर इतनी जोर से चिपट गया कि लगा जैसे छड़ी की चोट से शरीर में जहाँ-तहाँ जो डंक से चुभ रहे थे सो सब ताप उसके स्पर्श से धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा है।

उस छोटी सुजाता के सामने घर बाहर के लोग कहते-कहते थक गये पर उसने दो दिन तक अन्न-पानी नहीं छुआ। कहती थी जब तक पिताजी दीदी से हाथ जोड़ कर माफी नहीं माँगेंगे तब तक मैं पानी की बूंद भी नहीं पीऊँगी।

तब भक्त प्रह्लाद की उस शिष्या के सामने पिताजी को झुकना पड़ा।

उन्होंने माफी माँगी तब जाकर उसने अन्न जल ग्रहण किया।

आज इस बुझे-टूटे शरीर में दिन रात एक ही कामना सिसकती रहती है कि कैसे भी मेरी सुजाता के हाथों में मेरे हाथों की लिखी यह कापी पहुँच जाये और तब विश्वास है कि वह यदि मुझे देवी न समझे तो ऐसा इन्सान तो अवश्य ही समझेगी जिसने इस धरती पर कभी जान-बूझकर ऐसा कोई काम नहीं किया जिसके लिए मेरी लाड़ली सुजाता को शर्म से सिर नीचा करना पड़े।

उस कापी को पढ़ते-पढ़ते
सुजाता ने आखें मूंद लीं फिर
अनायास ही उसके होंठ बुड़बुड़ाने
लगे—"दीदो! मैंने तुम्हें कभी इन्सान
नहीं समझा। सदा तुम्हें देवी ही समझती
रही और आज तो उससे भी बड़ा दीदी !
देवी से भी बड़ा ! तुम्हें बनाने वाले उस
विधाता से भी बड़ा ! दीदी तुम्हारा विधाता हार गया ! तुम जीत गई।
दीदी ! अब मुझसे पढ़ा नहीं
जाता। तुम्हारा भजन बचपन में
मैं नहीं सुन पाती थी। और आज
तुम्हारा लिखा यह सब मुझसे नहीं पढ़ा
जा रहा है। नहीं दीदी ! मैं इसे नहीं पढ़
पाऊँगी।" कहते-कहते सुजाता ने उस कापी
को धीरे से बिछौने पर रख दिया। फिर पागलों
की तरह उस कापी को छाती से लगा लिया जैसे वह कापी न होकर उसकी
दीदी का हृदय है जिसमें आज भी विष-घूंटों की ज्वाला जल रही है।

४

आज वह छाती से चिपटा कर कैसे भी अपनी दीदी के अन्तर की उस ज्वाला को शान्त कर देगी। बड़ी देर तक उसे बाहों में दबाये छाती से चिपटाये रही।

तब धीरे-धीरे अपने आप बुड़बुड़ाई—"नहीं दीदी! जिस बात को तुमने मेरे लिए ही लिखा है सो मैं उसका एक अक्षर भी बिना पढ़े नहीं छोड़ूंगी। चाहे पढ़ते-पढ़ते साँस घुट कर मुझे यहीं इसी जगह मर ही जाना पड़े। दीदी! मैं तुम्हारा लिखा एक-एक अक्षर पढ़ूंगी।"

कहते-कहते उसने कापी खोली और जहाँ तक पढ़ चुकी थी उसके आगे पढ़ने लगी—"उस दिन भी सुजाता को सोता छोड़ कर मैं चली आई थी। अकेले ही मन्दिर गई थी। उस विशाल मन्दिर में कई देवता अलग-अलग प्रस्थापित थे। मुझे गौरी-शंकर और उनसे भी अधिक प्रिय राधा-कृष्ण थे।

उस दिन मैं राधा-कृष्ण के समीप बैठी—सुधबुध खोये गा रही थी।

"होजी हरि! कित गए नेहा लगाय।"

भजन गाकर जब आँसुओं से धुँधली हुई दृष्टि से मैंने भगवान् की उस युगल मूर्ति की ओर देखा तो लगा जैसे वह मूर्ति हँस रही है।

उनको हँसता देख मैं मारे भय के काँप गई। मुझे अपनी बुआ की बात याद हो आई। कभी बचपन में उन्होंने बताया था कि अगर देवता की मूर्ति हँसती दिखाई पड़े तो सर्वनाश हो जाता है।

तभी मुझे राधा-कृष्ण की मूर्ति के समीप ही खड़े एक सन्यासी दिखाई पड़े। मुझे लगा जैसे उन महात्मा और देवता की मूर्ति में कितना साम्य है। अगर अन्तर था तो बस इतना कि भगवान् की मूर्ति हँस रही थी और वहीं मूर्ति के समीप खड़े-खड़े उन महात्मा की आँखों से मोतियों जैसे धवल श्वेत आँसू उनके गोरे गालों पर झर-झर झरे जा रहे थे।

सहसा लगा जैसे वे महात्मा एकाएक काँप गये हैं। उन्होंने आँखें खोलीं। उन घनी पलकों में आँसुओं से डबडबाई पुतलियों को देखकर

मेरे रोम-रोम में न जाने कैसा सम्मोहन आ समाया। मैं विक्षिप्तों की तरह उठी और उन महात्मा के चरणों पर झुकने लगी।

महात्मा ने निषेध कर बीच ही में रोक लिया। बोले—"कितने वर्षों से छाया की तरह तुम्हारे समीप हूँ। आज तुम पहचान पाई हो ?"

मैं थोड़ा पीछे हट कर बोली—

"कब ? कहाँ ? मैंने तो आपको आज से पहले कभी नहीं देखा ?"

"अरे कल्याणी ! इस जन्म की बात मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं न जाने कितने जन्मों की बात कह रहा हूँ।"

सुन कर उनकी ओर एक टक बड़ी देर तक देखती रही। उनकी उस मीठी मुस्कान में न जाने कैसा जादू था। लग रहा था कि लोक-परलोक सबकी चिन्ता किये बिना जन्म-जन्म तक उसी मुस्कान को निरखती रहूँ।

तभी वे बोले—

"कल्याणी ! कितने वर्षों से तुम्हें खोजता आ रहा हूँ। आज तुम मिल गई हो तो लगता है जैसे मेरे तपसी जीवन को सिद्धि मिल गई है।"

"आप यहाँ कितने दिन रहेंगे ?"

'आज साँझ को या कल सुबह चला जाऊँगा। बाहर मेरे गुरुदेव समाधि में बैठे हैं। तुम्हारा कण्ठ-स्वर सुन कर मुझे लगा कि इसी स्वर को खोजता मैं भटक रहा हूँ। उसी को सुन कर इधर चला आया था।"

कुछ देर तक अपलक नयनों से एक दूसरे को देखते रहे तभी वह पड़ोसिन बुढ़िया वहाँ आ खड़ी हुई और हम दोनों को जब वैसी भाव-मुद्रा में देखा तो तीखे स्वर में बोली—

"हाय ! हाय !! कैसा कलियुग आया है। भगवान् के मन्दिर में ऐसा पाप ! अरे पापियो ! तुम्हें रौरव नरक मिलेगा। पीप की नदिया में सड़-सड़ कर मरोगे।"

कौन जाने उसी बुढ़िया का शाप सिर पर उठाये ही मैं इस नरक में

आ पड़ी हूँ पर मैं तो उन्हें देवता मान कर पूज रही थी। मेरे मन में तो कभी पाप नहीं आया।

उस बुढ़िया की बातें सुनकर वे महात्मा धीरे से मुस्कराये और बोले—'माँ! भगवान् तुम्हारा भला करें। मैं तुम्हारे लिए तुम्हारे इस कलुष भरे मन की मुक्ति के लिए सदा अपने भगवान् से प्रार्थना करता रहूँगा।" कह कर वे आगे बढ़े और झुक कर मुझे प्रणाम करते चले गये।

कई बार मैंने चाहा कि मैं उन महात्मा और उनके गुरु के दर्शन मन्दिर के दूसरी ओर जाकर कर आऊँ पर उस बुढ़िया की बातें सुनकर कैसे भी उधर जाने की मेरी हिम्मत नहीं हुई।

उसके बाद जब घर लौटी तो जो पिताजी ने किया सो मैं लिख चुकी हूँ।

एक साँझ को जब मन्दिर में गई तो चारों ओर घूमकर मैंने देखा कि वे महात्मा कहीं भी नहीं हैं। मन्दिर के बाहर बरगद के पेड़ के नीचे उनकी सुलगाई हुई धूनी अब ठण्डी पड़ी थी। न जाने क्यों उनके चले जाने से मुझे लगा जैसे न जाने कितने जन्मों के पुण्यों से जिन्हें मैंने अचानक पाया था सो अचानक ही मेरे जीवन से ओझल हो गये हैं। बड़ी देर तक मैं वहीं खड़ी रही और शीतल अग्नि-कुंड को देखती रही फिर आगे बढ़ी और उस भभूति को अपने माथे से लगा लिया। थोड़ी-सी भभूति लेकर मैंने अपनी साड़ी के छोर में बाँध ली जो आज भी किसी देवता की पुण्य स्मृति के रूप में सदा मेरे साथ रहती है।

उस दिन के बाद तो मेरा मन ऐसा विक्षिप्त हो गया कि जब भी मुझे समय मिलता मैं उसी बरगद के पेड़ के नीचे जा बैठती थी।

थोड़े दिन इसी तरह बीत गये और एक दिन ऐसा हुआ कि मैं कहीं की भी न रही। उस दिन बहुत सवेरे मैं मन्दिर चली गई थी। सुजाता मेरे साथ नहीं थी। चारों तरफ अँधियारा था। मन्दिर में जाकर सुजाता के हाथ की बनी वह चमेली की माला जैसे ही मैंने भगवान् कृष्ण की मूर्ति के गले में डाली तभी किसी ने मेरा मुंह जोर से दबोच

लिया और कानों ने सुना, "............इतने दिनों से जो माला भगवान् के गले में डालती आ रही है सो अब मेरे गले में डालनी होगी।"

मैं छटपटाई। हाथ पैर पटके पर कुछ भी वश नहीं चला। मेरे मुंह में कपड़ा भर कर ऊपर साफे से बाँध दिया गया। हाथ पैर रस्सियों से बाँध कर मुझे उठाया और पास खड़ी एक मोटर गाड़ी में पीछे की सीट पर पटक दिया।

गाड़ी तेजी से दौड़ी जा रही थी और मेरा मन कर रहा था कि यह तेज दौड़ती गाड़ी किसी चीज से टकरा जाए इतनी जोर से टकराये कि सब चूर-चूर हो जाए। पर गाड़ी कहीं भी नहीं टकराई। चारों तरफ प्रकाश होते ही एक आदमी पीछे की सीट पर आया और धीरे-धीरे उस साफे को, रस्सियों को खोल कर मेरे पास एक बड़ा-सा चाकू निकाल कर बैठ गया।

चाकू खोल कर बोला—"जरा भी आवाज़ की तो यह चाकू कलेजे के पार कर दूंगा। चुपचाप बैठी रह।"

एक जगह जंगल में वह गाड़ी रुक गई। वे दो आदमी थे। एक गाड़ी चला रहा था। एक मेरे पास बैठा था।

ड्राइवर बोला—"इंजन गर्म हो गया है। उस तालाब से पानी ले आ भाई! नहीं तो गाड़ी आगे नहीं चलेगी।"

यह सुनकर वह आदमी उतरा और पेट्रोल वाली छोटी-सी कनस्तरी लेकर पानी लेने के लिए चला गया।

उसके जाने के बाद वह बड़ी मूंछों वाला बोला—"बोल! किसके साथ रहेगी? मेरे साथ या उसके साथ? मैं तेरे पीछे चार साल से पड़ा हूँ और यह जो दो महीने से मैनपुरी में आया सो कह रहा है कि भगवान् के गले में पड़ने वाली माला इसके गले में पड़ेगी। साले का गला मरोड़ कर रख दूंगा। पैसे वाला है सो क्या मेरी चीज हड़प जाएगा। बोल जल्दी फैसला कर। मेरी आँखों में आज खून उतर आया है।

तभी ड्राइवर ने देखा कि वह आदमी पानी लेकर दौड़ा आ रहा है।

ड्राइवर बोला—"नहीं बोलती तो चल फिर आज ही तेरे साथ सात भाँवरे डाल कर छोड़ूंगा। वह साला कहता है इससे पेशा करवाऊँगा। नरक में जगह मिलेगी इस कुत्ते को। भगवान् की पुजारिन को बाजार में बिठाएगा।"

कहते-कहते उसने इंजन स्टार्ट किया और पूरी रफ्तार में गाड़ी दौड़ा दी। वह दूसरा साथी न जाने क्या कहता वहीं पैर पटकता खड़ा का खड़ा रह गया।

मैं पीछे बैठी-बैठी दायें-बाएँ, आगे पीछे देख रही थी कि कैसे भी इस राक्षस के हाथ से निकल पाऊँ तभी मैंने देखा कि पीछे से एक गाड़ी तेजी से दौड़ती चली आ रही है। गाड़ी पर तिरंगा झंडा लग रहा था।

उस झंडे को लगा देख कर मैं समझ गई कि किसी मंत्री की गाड़ी है। उस गाड़ी ने इस गाड़ी से आगे निकलने के लिए कई बार होर्न बजाया। तब जैसे ही ड्राइवर ने एक ओर गाड़ी की और वह तिरंगे वाली गाड़ी मेरी गाड़ी के समीप आई वैसे ही खिड़की से हाथ बाहर निकाल कर मैं जोर-जोर से चिल्लाने लगी—"बचाओ ! बचाओ !!"

और मेरे चिल्लाने पर ड्राइवर ने जोर-जोर से होर्न बजाना शुरू कर दिया जिससे मेरी आवाज छिप जाए। और वही हुआ। उन लोगों ने मेरी आवाज नहीं सुनी वे आगे निकल गये और गाड़ी सड़क के मोड़ में जाकर छिप गई। सामने ही छोटी सी पहाड़ी थी।

गाड़ी चलाते-चलाते वह बोला—"इस बार तो मैंने माफ कर दिया पर अब अच्छी तरह समझ ले कि तू चिल्लाई और मैंने छुरा तेरे कलेजे के पार किया। अरे घबराती काहे को है। मैं तो तेरे साथ शादी करूंगा। पेशा तो नहीं कराऊंगा।"

जैसे ही हमारी गाड़ी सड़क के मोड़ पर उस पहाड़ी के पीछे से आगे निकली तो देखा वह झंडे वाली गाड़ी बीच सड़क में तिरछी होकर

खड़ी है।

हमारी दोनों गाड़ियों के बीच जरा सा फासला बाकी था। उस गाड़ी को वहाँ उस तरह खड़ा देखकर ड्राइवर चौकन्ना हो गया। जब तक ड्राइवर ने गाड़ी को मोड़ने की कोशिश की तब तक पिस्तौल ताने दो आदमी सामने आकर खड़े हो गये। तभी मैं गाड़ी की खिड़की खोल कर जमीन पर कूद पड़ी।

मैं तो बच गई पर वह ड्राइवर कैसे भी गाड़ी मोड़ कर निकल भागा। उन लोगों ने गाड़ी का नम्बर नोट कर लिया और मुझे लेकर अपनी गाड़ी के पास आये।

उस गाड़ी में खद्दर के साफ कपड़े पहने कोई नेता बैठे थे। बाद में मुझे पता चला कि वे किसी प्रान्त के मंत्री हैं।

उन्होंने बड़े स्नेह से मुझे गाड़ी में बैठा लिया और मीठे स्वर में बोले—"बेटी ! तुम्हारा क्या नाम है ?"

मैंने अपना असली नाम नहीं बताया।

मैंने धीरे से कहा—"अरुणा"

वे सब बात जान लेना चाहते थे पर मैं अपने घर वालों की बदनामी के डर से उन्हें सच्ची बात बताना नहीं चाहती थी।

मैं समझी कि उन्होंने मेरी बातों पर विश्वास कर लिया है पर थोड़ी देर बाद वे मीठा-मीठा मुस्कराते बोले—"कोई बात नहीं बेटी ! अभी तुम घबराई हुई हो। फिर बता देना।"

कुछ देर चुप रह कर बोले—

मैं ·········प्रान्त का मंत्री हूँ। मेरा अपना एक आश्रम है। मैं तुम्हें वहीं छोड़ दूंगा। अगर तुम चाहो तो तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देंगे और घर न जाना चाहो तो आश्रम में ही छोड़ दूंगा।"

मैंने धीरे से कहा—"मैं घर नहीं जाऊँगी।"

"ठीक है तब आश्रम में रहना।"

उस आश्रम में रहते मुझे
दो महीने हो गये थे। घर से
इतने दिन तक दूर रहते-रहते मुझे
लग रहा था जैसे मेरे शरीर से काट
कर मेरी आत्मा को किसी ने फैंक दिया
है। अम्मा, बापू, की याद आती तो रो लेती
पर सुजाता की याद मुझे मारे डाल रही थी।
साथ ही उस आश्रम की एक बात तो इतनी दुःखदायनी थी कि मैं कैसे भी
सह नहीं पाती थी लेकिन उस
दुःख को सहने में भी ऐसा सुख
था कि हर क्षण उसी को सहने के
लिए तैयार रहती थी। बात यह थी कि
उस आश्रम में बच्चों और बड़ी उम्र की
लड़कियों के पढ़ने की व्यवस्था थी। मैंने उन
मंत्री जी से कह-सुन कर अपने पढ़ने की व्यवस्था
भी करा ली थी। वे मंत्री इतने सीधे थे कि मैं जो भी काम उनसे कराना
चाहती थी, करा लेती थी।

५

उस आश्रम में जो बाल-मंदिर था उसमें एक लड़की सुजाता की उम्र की ही थी और अचरज की बात यह थी कि उसका रूप-रंग उठने-बैठने यहाँ तक कि बोलने का ढंग भी हमारी सुजाता रानी से मिलता जुलता था।

उस लड़की को मैं आश्रम में कैसे भी सह नहीं पा रही थी। उसे देखते ही मैं सुजाता की याद में तड़प उठती थी। जहाँ वह क्लेश दायिनी थी वहीं मेरे मन में उस लड़की के लिए ऐसा स्नेह था कि एक क्षण के लिए भी अपनी आँखों से उसे ओझल नहीं होने देती थी।

जब वे मंत्री एक बार आश्रम में आये तो उनसे कह कर उस लड़की को मैंने अपने कमरे में ही बुला लिया।

वे मंत्री अक्सर मिनिस्ट्री के काम-काज में पड़ौसी बड़े शहर में ही रहते थे। कभी-कभी आश्रम में आ जाते थे। दो-चार दिन ठहर कर फिर चले जाते थे।

उस छोटी लड़की का नाम अनुराधा था। मैं उसे प्यार से अन्नू कह कर बुलाती थी। थोड़े दिनों में वह लड़की तो आश्रम के लिए एक समस्या बन गई।

वह अपने बाल-मंदिर में जाकर न जाने क्या-क्या, कैसी-कैसी बातें मेरे बारे में कहती थी और वह सब सुन-सुन कर बाल-मंदिर के बच्चे साँझ होते ही मेरे कमरे में आकर भर जाते थे।

उन्हें गाना सुनाती, कहानी सुनाती उनके साथ खेलती-कूदती थी और एक दिन वह आया कि बच्चे जिद कर बैठे कि वे सब होस्टल छोड़ कर मेरे कमरे में ही रहेंगे और अनुराधा थी उनका लीडर। उसने सब बच्चों को समझा रक्खा था कि जरा सा रूठ कर तुम जो चाहो सो दीदी से करा सकते हो।

उन दिनों मंत्री जी आश्रम में ही थे। आश्रम की संचालिका बड़े धर्म संकट में थीं। बच्चों का कहना था कि अगर दीदी के कमरे में नहीं भेजोगे तो हम खाना ही नहीं खायेंगे।

मंत्री जी ने मुझे अपने कमरे में बुलाया। संचालिका उनकी पत्नी ही थी। उनके कमरे में पहुँच कर मैंने उन्हें नमस्कार किया और चुपचाप कुर्सी पर बैठ गई।

बैठते ही वे बोले—"अरुणा! यह क्या उपद्रव मचा रक्खा है तूने ?"

"उपद्रव !"

"हाँ, ये बच्चे क्या कह रहे हैं ?"

"मैं क्या करूँ ?"

"करो यह कि या तो अनुराधा को बच्चों के होस्टल में वापस भेज दो या फिर तुम अनुराधा को लेकर बच्चों के होस्टल में चली जाओ।"

सुन कर मारे खुशी के उछलती बोली—"ठीक है मैं बच्चों के होस्टल में चली जाऊँगी।"

उनकी पत्नी हँसती बोली—"चली तो जाओगी लेकिन यह भी सोच लो कि वहाँ शोर-गुल में तुम कुछ भी पढ़-लिख नहीं पाओगी।"

मैं धीमे स्वर में बोली—"उसकी आप चिन्ता मत करिये। जब बच्चे सो जायेंगे तब पढ़ लिया करूँगी।"

सुन कर वे मंत्री मुस्कराते बोले—"हमारे आश्रम का सौभाग्य है कि हमें अपने बच्चों की एक माँ और मिल गई।"

सुन कर न जाने क्यों मैं लजा गई और बिना कुछ कहे वहाँ से भाग कर अपने कमरे में आ गई।

उस रात मारे खुशी के मुझे नींद नहीं आई। बच्चों में रहना मुझे बहुत अच्छा लगता है।

दूसरे दिन से ही मैं बच्चों के होस्टल में चली गई। बच्चों की पढ़ाई-लिखाई नीचे होती थी और रहते थे वे ऊपर की मंजिल में।

पहले दिन साँझ के समय पढ़ाई-लिखाई और खेल-कूद के बाद खा-पीकर जब बच्चे अपने बड़े कमरे में आ गये तो अब झगड़ा यह मचा कि मेरी चारपाई के पास किसकी चारपाई रहेगी। अन्त में तय यह हुआ कि बारी-बारी से दो-दो बच्चे मेरी चारपाई के इधर-उधर सोया करेंगे।

उस रात बच्चों के इस स्नेह में नहाती-सिहरती जब मैं सोने लगी तो लगा जैसे जो स्नेह-सरिता मेरे चारों ओर उफनती बही जा रही थी सो अचानक किसी क्लेश के ज्वालामुखी में जाकर एकाएक सूख गई है। कहीं भी एक बूंद शेष नहीं रहा है।

बात यह हुई कि जब मैं सो रही थी—तो मेरी झपकती आंखों के समीप मेरी सुजाता आ खड़ी हुई। लगा जैसे चमेली के फूलों की माला गूंथती अपनी नन्हीं सहेली से कह रही है—

"जानती हो मेरी दीदी देवी हैं!"

फिर रात भर उसी सुजाता की छाया के पीछे भटकती रही। एक क्षण के लिए भी नींद नहीं आई।

अभी पन्द्रह दिन ही मुझे उस होस्टल में रहते हुए थे कि एक आफत मेरे पीछे लग गई।

उस बाल मन्दिर का एक अध्यापक आकर एक दिन बोला—

"आप मुझे अंग्रेजी पढ़ा सकती हैं? मैंने साहित्यरत्न किया है पर अंग्रेजी पढ़ने को मेरा मन बहुत करता है।"

पहले तो मेरा मन हुआ कि साफ-साफ कह दूं मेरे पास समय नहीं है पर जब मैंने उसकी ओर देखा तो लगा इस निरीह को कैसे मना कर दूं। वह सिर झुकाये मेरे समीप बैठा था।

उसे पढ़ाते हुए मुझे एक महीना हुआ होगा कि इस बीच उस अध्यापक को लेकर मेरी सहपाठिनों ने ऐसा ऊधम मचाया कि मेरी आफत आ गई।

मैं सोचने लगी क्या करूँ। मना कर दूं उसे? एक रात मैं सोने जा रही थी तभी वह आया और कमरे के बाहर खड़ा हो गया। धीरे से बोला—

"मेरी कविताओं की किताब छप कर आ गई है। आपको देने आया हूँ।"

मैं बाहर आई और उस किताब के लिए धन्यवाद देती कमरे के

अंदर चली गई। अंदर जाकर देखा तो मारे लाज के पानी-पानी होगई।

उस पुस्तक के पहले ही पृष्ठ पर लिखा। मैंने पढ़ा—

"अपनी काव्य-साधना की प्रेरक शक्ति अ............को।"

मैं सोचने लगी मेरा नाम 'अरुणा' भी तो इसी 'अ' से शुरू होता है। यह क्या सूझा इसे ? क्या सचमुच ही इसका दिमाग खराब हो गया है।

दूसरे दिन जब मैं अपनी कक्षा में गई तो सामने ब्लेक बोर्ड पर मैंने लिखा देखा—

अपनी काव्य साधना की प्रेरक शक्ति अ... .. ....को।"

जब मैंने उसको पढ़ा तो सारी कक्षा खिलखिला कर हँस पड़ी और फिर तरह-तरह की बातें कानों पर आने लगीं। कक्षा-अध्यापिका अभी तक मेरे कमरे में नहीं आई थीं।

मैं उठ कर कमरे से बाहर आ गई। चुपचाप अपने कमरे में दिन भर लेटी रही। उस दिन एक पीरियड के लिए भी कक्षा में नहीं गई।

साँझ के समय जैसे ही वह अध्यापक पढ़ने के लिए आया, मैंने डपट कर उससे पूछा—"यह क्या मजाक है ?

वह भौंचक्का-सा बोला—

"क्या मतलब ?"

"यह किताब तुमने किसे भेंट की है ?"

"अपनी प्रेरणा को ?"

"यही तो मैं जानना चाहती हूँ कि यह आपकी प्रेरणा कौन है ?"

"यह बात बिलकुल मेरी व्यक्तिगत है। जान कर क्या करेंगी ?"

सुन कर मैं मारे आत्मग्लानि के पानी-पानी हो गई। कुछ सावधान होकर मैंने उस अध्यापक से कहा—

"देखिये। अब मेरे पास समय नहीं है। अपना भी बहुत कुछ पढ़ना-लिखना है। परीक्षा सिर पर है। मैं आपको अब आगे पढ़ा नहीं सकूँगी।"

सुन कर सिर उठा कर उसने एक बार मेरी ओर देखा फिर बोला–"आपने अब तक कष्ट उठा कर मुझे जो विद्या-दान दिया है उसका आभार मैं जीवन भर नहीं भूलूंगा।"

उस बात को थोड़े ही दिन बीते होंगे कि एक दिन मैंने देखा वह अध्यापक अपने कमरे में सिसक-सिसक कर रो रहा है। उसका कमरा सीढ़ियों के पास ही था।

उसे उस तरह रोते देख मुझे उसके बारे में जानने की जिज्ञासा तो हुई पर अपनी कक्षा की उन तूफानी लड़कियों की बात याद करके ही मैं उधर नहीं गई।

बच्चों को सुला कर जैसे ही मैं लेटी थी कि मंत्रीजी का चपरासी आया। बोला—"आपको मंत्रीजी बुला रहे हैं।"

जाड़े के दिन थे। मैं चादर लपेट कर उसके पीछे-पीछे चल दी।

जब कमरे में पहुँची तो देखा—सदा की तरह उनकी पत्नी आश्रम की संचालिका अपनी आराम कुर्सी पर नहीं हैं।

मैंने पूछा—"कहिए ! क्या आज्ञा है ?

"आज्ञा यह है कि आज तुम्हें इधर ही रहना होगा।"

"इधर ! क्यों ?"

"तुम्हारी जीजी शहर गई हैं! सुना है कि तुम्हें इस घर की मालकिन बनाकर गई हैं।"

'लेकिन उन्होंने मुझ से तो कुछ नहीं कहा।"

"वह इसी गाड़ी से गई हैं ! तुम्हारे लिए हुक्म मुझे सुना गई हैं।"

'लेकिन बच्चे अकेले हैं।"

"उसका प्रबन्ध मैंने कर दिया है।"

"जीजी कितने दिन बाहर रहेंगी ?"

"यही दस पन्द्रह दिन। उनकी बड़ी बहन दिल्ली इर्विन होस्पीटल में बीमार हैं, वहीं गई हैं।"

"वह कोने पर तुम्हारा कमरा है। सुबह जल्दी उठकर मेरे लिए

पानी गर्म करा देना। और नौकर से कहकर पूजा का कमरा ठीक करा देना।"

"ठीक है" कह कर उनके बताए कमरे में मैं चली गई पर आधी रात तक नींद नहीं आई। बार-बार उस अध्यापक का ही ख्याल आ रहा था कि वह रो क्यों रहा था ?

यही सोचते-विचारते मुझे नींद आ गई। अभी सोए जरा-सी देर हुई थी कि मैं चौंक कर जाग पड़ी। मुझे लगा जैसे किसी ने मुझे छुआ है। सामने देखा तो उस अंधेरे कमरे में एक काली छाया-सी खड़ी थी।

मैंने मारे डर के काँपते कंठ से कहा—"कौन है ?"

उत्तर में मैंने उन्हीं मंत्री का कंठ-स्वर सुना।

सुनकर मेरे प्राण में प्राण आए। मैं बनावटी क्रोध दिखाती बोली—"आपने तो मुझे डरा दिया ? क्या सुबह हो गई ? पानी गर्म करूँ ?"

"नहीं, इतना जाड़ा है, अच्छी तरह ओढ़ कर सोओ। अपनी जीजी की सी ही तुम्हारी आदत है। उनको भी सदा रात के समय दो-चार बार ओढ़ाना पड़ता है।"

अपने लिए उनकी उस ममता को जानकर मैं अन्दर ही अन्दर भर आई। मैंने स्नेह से गद्-गद् होकर कहा—"आप मेरी इतनी चिन्ता क्यों करते हैं ? मुझे कुछ नहीं होगा।"

दूसरी रात भी अचानक मैं जाग गई और देखा उन मंत्रीजी की ही छाया सामने खड़ी है।

मेरे जागने पर बोले—"तू इतना डरती क्यों है ? इस घर की चहारदीवारी में कोई नहीं आ सकता ? मेरे सिवा यहाँ कोई नहीं है। नौकर चाकर सब बाहर सोते हैं।"

मैं स्नेहातुर होकर बोली—"आप मेरे लिए इतना कष्ट क्यों करते हैं ?" अगर थोड़ा उधड़ भी गई तो मरी थोड़े ही जा रही हूँ।" कहकर मैंने अच्छी तरह से अपना बदन कम्बल और रजाई से ढक लिया।

मंत्रीजी चले गये और मैं अपने उस जीवन-त्राता के लिए मन ही

मन भगवान् से प्रार्थना करती सो गई।

सुबह उठकर मैंने अपने हाथों से ही पानी गर्म किया। उनके पूजा का कमरा ठीक किया।

मैं भगवान् की मूर्त्ति के सामने बैठी उनका आसन ठीक कर रही थी। तभी वे कमरे में आए और बोले—"अरे तू यह सब क्यों कर रही है? नौकर को बाहर से बुला लिया होता।"

मैंने हँसते-हँसते कहा—"इसलिए कि आपके लिए यह सब करने में मुझे सुख मिलता है।"

सुनकर वे आगे बढ़े और मेरे कंधे पकड़ कर मुझे अपने बिलकुल निकट सटा लिया। तब सिर पर हाथ फेरते-फेरते बोले—"पता नहीं तेरा नाम किसने अरुणा रख दिया है। तू तो सुखदा है सुखदा!"

अपने उन बुजुर्ग की वैसी आशीष पाकर मेरा रोम-रोम सिहर उठा।

तभी बाहर नौकर ने किवाड़ खटखटाए और मैं कुंडा खोलने चली गई। उस दिन आश्रम की छुट्टी थी।

शहर से बहुत से लोग मंत्रीजी से मिलने जुलने आए थे। दिन भर चाय, पकौड़े, साग, पूड़ी बनता रहा। सारा इन्तजाम मुझे ही करना पड़ा।

उन आने वालों में एक प्रौढ़ा महिला अन्दर रसोई में आकर बैठ गईं और मुझे ऐसी तीखी निगाह से देखने लगीं कि उनकी वह दृष्टि सहना मेरे लिए असह्य हो गया।

बोलीं—"क्या करती हो यहाँ?"

"पढ़ती हूँ।"

"किस कक्षा में?"

"बी० ए० फाइनल में।"

"इन मंत्रीजी की क्या लगती हो?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ नहीं, फिर अकेली इनके साथ ही रहती हो ?"

"जीजी बाहर गई हैं। मुझे ही यहाँ रहने के लिए कह गई हैं।"

सुनकर वे चुप रहीं फिर बोलीं—"बेटी ! बुरा मत मानना। सोच रही होगी यह कौन होती है ऐसी-वैसी बातें पूछने वाली। तुम्हारे हित के लिए ही मैं पूछ रही थी।"

कहकर वे चुप रहीं। मैंने कहा—"आप मुझ से बड़ी हैं। आपकी बात का बुरा क्यों मानूँगी।"

वे बोलीं—"रात को कहाँ रहती हो ?"

"यहीं उस कोने वाले कमरे में सो जाती हूँ।"

"अकेली ?"

"नहीं दूसरे कमरे में मंत्री चाचा सोते हैं।"

वह अचरज से बोली—"अरे ! हद कर दी। तुम दोनों ही अन्दर सोते हो ?"

मैंने हिम्मत करके पूछा—"आपको इतना अचरज क्यों हो रहा है ?"

वह अचरज भरे स्वर में बोलीं —'बेटी ! इस बूढ़े ने तुझे तंग तो नहीं किया ?"

"तंग ! मुझे तंग क्यों करते ?"

"बेटी ! कहने को तो गाँधी का चेला बना फिर रहा है। बात-बात में बापू की दुहाई देता है पर है पूरा रँगा सियार।"

सुनकर मेरे तो होश उड़ गये। मेरे हाथ के पकोड़ों की थाली हाथ से छूट कर धरती पर जा पड़ी। तभी मंत्री जी दौड़े-दौड़े अन्दर आये।

बोले—"क्या हुआ ? अरे मृदुला बहन ! तुम यहाँ बैठी क्या कर रही हो ? आओ अन्दर आ जाओ।"

वे बोलीं—"अभी आती हूँ थोड़ा बेसन और है। हमारे उन्हें जरा ज्यादा सिके पकौड़े पसन्द है इसीलिए यहाँ आ बैठी हूँ।"

सुन कर मंत्रीजी जिस तरह मुस्कराये वह मुझे बहुत बुरा लगा।

मुस्कराते-मुस्कराते बोले—"मृदुला बहन ! उन्हीं की तुम्हें ज्यादा चिन्ता है। मुझे जो पसन्द है उसकी चिन्ता तुमने कभी नहीं की।"

"उसकी चिन्ता जितनी मैंने की है भाई साहब ! उतनी कभी किसी ने नहीं की होगी।"

"अच्छा ! अच्छा !" कहते-कहते वे अन्दर चले गये।

उनकी इस तरह की बातें सुनकर मुझे मंत्रीजी पर कुछ-कुछ शक हुआ पर यही सोचकर मैंने वैसा सोचना छोड़ दिया कि कुछ गृहस्थिन औरतों को दूसरों की निन्दा करने में न जाने क्यों बहुत आनन्द आता है।

वे बोलीं—"देखो बेटी ! इस आश्रम के बुनकर की बहू को बुला कर कभी पूछना कि इस रंगे सियार ने उसकी जल-चिकित्सा कैसे की थी ?"

"आप ही बता दीजिए न ?"

सुनकर उनके चेहरे पर एक घिनौनी हँसी बिखर गई। पकौड़ों को कढ़ाई से बाहर निकाल कर बोलीं—

"तुम्हारी जीजी तो पढ़ाने गई थीं। वह बुनकर मंत्रीजी के पास आकर बोला कि उसकी औरत के पेट में हमेशा दर्द रहता है।

मंत्रीजी बोले—"उसे मेरे पास भेज देना। ऐसा इलाज बता दूँगा कि कभी पेट में दर्द नहीं होगा।"

बुनकर ने अपनी बहू को मंत्रीजी के पास भेज दिया। मंत्री जी उसे स्नान घर में ले गए और बड़े टब में पानी भर कर बोले—"देखो, इस टब में लेट जाओ और एक घंटे तक अपना पेट, पानी में डुबोए धीरे-धीरे हाथ से मलती रहो।"

आश्रम के सभी लोग इसे दादा, चाचा कहते हैं इसलिए वह औरत भी नहीं झिझकी। वह पानी के टब की ओर बढ़ी। मंत्रीजी बोले—तुम जल्दी से इसमें लेट जाओ तो मैं बता दूं कि कैसे मला जाता है। डाक्टर से लाज शर्म नहीं करते हैं।"

"वह बेचारी उस टब में लेट गई। तब इस सियार ने एक ऐसी

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

६

फरवरी का महीना था।
मंत्रीजी के अतिथि गाड़ी से
शहर चले गये तो काम-काज से
निवृत्त होकर मैं बाहर आँगन में
आकर खड़ी हो गई। मैंने आकाश की
ओर देखा। सारा आकाश घने काले बादलों
से घिर आया था। जहाँ तहाँ रह-रह कर
बिजली कौंध उठती थी। ऐसे मौसम में न जाने क्यों मुझे एक ऐसी
उदासी आ घेरती है कि फिर
किसी से बात करने का मन नहीं
करता। मैं ऐसी ही मनोदशा में
अपने कमरे में जाकर लेट गई। महरी
बर्तन साफ करके चली गई। तब मंत्रीजी
ने ही अंदर से कुंडा बंद कर लिया और मेरे
कमरे के दरवाजे पर आकर बोले—"अरे ! क्या
अभी से सोने की तैयारी कर दी ? आओ थोड़ी देर बैठें।"

कैसे भी उठने को मेरा मन नहीं कर रहा था पर उनकी बात को

में टाल नहीं सकी।

मैं उनके कमरे में जाकर बैठ गई। मैं आराम कुर्सी पर कम्बल ओढ़े बैठी थी। वे अपने बिछौने पर लेट गये। कुछ देर कमरे में सन्नाटा रहा फिर बोले—"वह औरत जो तुम्हारे साथ बैठी पकौड़े तल रही थी—कैसी लगी?"

"ठीक थी।"

"मेरे बारे में कुछ कह रही थी?"

"नहीं।"

"जानती हो वह कौन है?"

"कौन है?"

"वह एक वेश्या की लड़की है। यहाँ के एक काँग्रेसी नेता ने उससे शादी कर ली है। वह जिस घर में जाती है उसी में आग लगाती रहती है। खैर हुई जो तुमसे कुछ नहीं कहा। नहीं तो मेरी बुराई करती वह थकती नहीं है।"

"आपकी बुराई क्यों करती है?"

"असल में यह मंत्रीपद उसके पति को मिलना था पर उसी की वजह से जनता में उनकी बदनामी फैल गई और मंत्री मैं हो गया। अब वह चाहती है कि मेरी भी बदनामी हो।"

सुनकर मैंने सन्तोष की साँस ली। वह गहरी निराशा-सी जो अन्दर ही अन्दर मेरे रोम-रोम में समा गई थी सो धीरे-धीरे मिटने लगी। और मन उड़ गया उस मन्दिर वाली घटना के अभागे क्षणों में, फिर वे महात्माजी और उसके बाद की कितनी घटनाएँ!

मैं अपने ही में ऐसी डूबी कि पता ही न चला कि मैं कहाँ किसके सामने बैठी हूँ।

तभी मैंने देखा कि वे मंत्रीजी मेरी आराम कुर्सी के पीछे खड़े, कंधों से नीचे खिसका कम्बल धीरे-धीरे मुझे उढ़ा रहे हैं। मैंने घबरा कर उनके हाथों से कम्बल ले लिया और बोली—"आप मेरे लिए इतना

कष्ट क्यों करते हैं। मैं आपके इन उपकारों का ऋण नहीं चुका सकूंगी।"

सुन कर वे अपनी चारपाई पर जाकर लेट गए। मुस्कराते बोले—"तुम्हें याद है कि मैंने तुम्हारा नाम सुखदा रक्खा है?"

"मैं कभी नहीं भूलूंगी। वह तो मेरे लिए आशीर्वाद बन गया है।"

कहते-कहते मैं उठी और अपने कमरे में जाने के लिए वहाँ से चल दी।

तभी वे बोले—"बस चल दी?"

"नींद आ रही है।"

"अच्छा जाओ पर एक बात सदा याद रखना कि तुम पर मेरा कोई ऋण है।"

"वह मैं कभी नहीं भूलूंगी।"

कह कर मैं चली आई और चुपचाप अपने बिस्तर पर लेट गई। मुझे लग रहा था कि जैसे आज का दिन मेरे लिए ऐसा दिन है जब लड़की की उम्र में तरह-तरह की जिज्ञासाएँ जागती हैं। न जाने कैसे-कैसे प्रश्न—कैसी-कैसी बातें!

आज तक मैंने कभी किसी पर अविश्वास नहीं किया था। अगर कभी हुआ भी तो थोड़ी ही देर में मिट जाता था पर आज मुझे लग रहा था कि मेरे विश्वास की दीवाल ढही जा रही है।

आज कैसे भी उस औरत और मंत्रीजी पर विश्वास नहीं कर पा रही थी। बार-बार सोचती थी—वे उसका 'वेश्या-पुत्री' कहकर अपमान करते हैं तो उसके साथ हँसी मजाक क्यों कर रहे थे? उन्होंने ऋण याद रखने के लिए क्यों कहा?

आज उनकी मुस्कराहट में ऐसा छोटापन क्यों था? क्या उस बुनकर की बहू वाली बात सच है?

पर कैसे भी मैं किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पा रही थी। सोचते-सोचते उसे पता ही न चला कि कब गहरी नींद में पलक मुँद गये।

नींद आते ही मुझे सपना आया कि किसी जंगल में जा पहुँची हूँ

और वहाँ अचानक किसी अजगर ने मुझे अपनी गुंजलक में लपेट लिया। मैं हाँफती-हाँफती चौंक पड़ी और तभी मैंने देखा कि मेरे कमरे से बाहर एक काली छाया चली जा रही है। मैंने पहचाना कि वह काली छाया उन्हीं मंत्री की है।

सोचने लगी—"कितनी बार कहा कि आप यह कष्ट क्यों करते हैं पर मानते ही नहीं। वह कैसे भी समझ नहीं पाती कि यह आदमी राक्षस है या देवता? कहीं भी कुछ पकड़ाई में नहीं आता पर विश्वास भी नहीं जमता।"

मुझे लग रहा था कि जिस विश्वास को लेकर आज तक जीती आ रही हूँ सो हाथ से छूटा जा रहा है। क्या अब हर आदमी को इसी अविश्वास की निगाह से देखना होगा? क्या मुझे इतना छोटा हो जाना पड़ेगा? तो क्या अध्यापक भी उसी के लिए रो रहा था? क्या उसने भी अपनी किताब मुझी को भेंट की है?

जब सुबह उठने लगी तो मुझे लगा कि तेज बुखार है। अपने ही हाथ से अपनी नब्ज देखी तो निश्चय हो गया कि तेज बुखार हो आया है।

उस दिन न जाने क्यों मंत्रीजी मेरे सामने नहीं आये। मैंने घर के नौकर से कह कर आश्रम के डाक्टर को बुलाया। दवा पीकर चुपचाप लेटी रही।

उस दिन मंत्रीजी घर से बाहर आश्रम का काम काज देखते रहे। चार बजे के समय जब लौटे तो उनके साथ एक चहकती-सी लड़की थी।

उस लड़की के साथ मेरे कमरे में आये और मेरा परिचय देकर उसका परिचय देते हुए बोले—"यह हमारे बंगाली मित्र की लड़की है। आज ही जयपुर से आई है। कभी-कभी यह आकर हम लोगों के साथ रहती है।"

दूसरे दिन मंत्रीजी बाहर गये थे। वह बंगालिन लड़की कमरे में बैठी कुछ पढ़ रही थी। तभी शहर की एक लड़की उसी गाड़ी से उतरी। स्टेशन आश्रम के पास ही था। आने-जाने वाली हर गाड़ी की सीटी

सुनाई पड़ती थी।

जैसे ही वह लड़की कमरे में आई वैसे ही बोली—"हलो मिस बनर्जी ! आप यहाँ कैसे ? आज कल क्या करती हैं ?"

"अरे हम तो ऐश करते हैं। इन बूढ़े नेताओं को बेवकूफ बनाते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं।"

"देखो, मुझे एक सिफारिश करानी है। एक जगह खाली हुई है। उसके लिए कोशिश करनी है।"

"देखो मिस शर्मा, यहाँ तो सीधी बात जानते हैं। मन में कुछ रखते नहीं। सिफारिश का रुपया पाँच सौ होगा। एप्लीकेशन मुझे दे जाओ। कल रुपये लेकर आओ। सातवें रोज एपोइन्टमेन्ट लेटर (नियुक्ति पत्र) तुम्हारे घर पहुँच जाएगा। बोलो, क्या कहती हो।"

"ठीक है कल मैं रुपये लेकर आऊँगी।"

कुछ देर वे दोनों लड़कियाँ बातें करती रहीं। कभी धीरे-धीरे बातें करतीं, कभी खिलखिला पड़तीं। वह लड़की चली गई और बंगालिन आश्रम में चली गई।

न जाने क्यों मेरी ओर एक बार भी नहीं आई। साँझ के समय वह मंत्रीजी के साथ ही आई।

मेरा बुखार तेज हो गया था। मंत्रीजी कमरे में आये और बोले— "अरुणा ! डाक्टर कहता है कि तुम्हें टाइफाइड हो गया है। कल शहर के अस्पताल में दाखिल कराना होगा।"

कह कर वे अपने कमरे में चले गये। तभी उस बंगालिन का धीमा कंठ-स्वर सुनाई पड़ा—"दादा ! यह बला क्यों पाल रक्खी है ?"

वे मंत्री बोले—"अब क्या करूँ ? तुम तो महीनों ख़बर ही नहीं लेती !"

और उसके बाद उन लोगों की जैसी बातें शुरू हुई सो सुनकर मेरे होश उड़ गए। मैंने अपने कान अपनी ही हथेलियों से बन्द कर लिये और सोचने लगी—"यही हैं इस स्वतंत्र भारत के कर्णधार ? यही हैं

उस राष्ट्र पिता के उत्तराधिकारी ? यही है इनका गांधीवाद ? यही हैं इस आश्रम के संस्थापक ?"

उसके बाद जो बात मेरे कान में पड़ी उसको सुनकर मैं कैसे भी अपने कमरे में चुपचाप पड़ी न रह सकी। मैं दीवाल के सहारे जैसे-तैसे उठी और कमरे से बाहर निकली। तब मेरी आँखों ने देखा—कमरे के शीशों पर दो नंगे नर-नारी के छाया-चित्र।

मन हुआ कि उठा कर पत्थर उस शीशे पर दे मारूँ और उन छायाओं को मिटा दूँ पर मैंने वैसा कुछ नहीं किया। चुपचाप किवाड़ खोलकर बच्चों के होस्टल की ओर जाने लगी पर कैसे भी चला नहीं जा रहा था।

मैं रास्ते में ही बैठ गई। तभी मैंने देखा कि आश्रम के एक पेड़ की अँधेरी में से एक काली छाया निकली और मेरी ओर आने लगी।

जब सामने वह छाया आई तो मैंने पहचाना कि वह बच्चों का अध्यापक कवि था।

आते ही बोला—"दीदी !

सुनकर मेरा रोम-रोम मारे आत्म-ग्लानि के भर आया।

मैंने पूछा—"तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"दीदी ! तुम जब से इधर आई हो मैं हमेशा इसी पेड़ की छाया में बैठा रहता हूँ।"

"क्यों ?"

"सोचता था कि जिस ढोंगी के घर में जाकर आप रह रही हैं उससे बचने के लिए कभी भी मेरी दीदी की पुकार आ सकती है ?"

सुनकर मेरी आँखें छलछला आईं। मैं धीरे से बोली—"भइया ! इधर तो आना। जरा मेरा हाथ थामना। मुझ से उठा नहीं जा रहा है।"

उसने मुझे उठाया और धीरे-धीरे सहारा देकर अपने कमरे तक पहुँचा दिया। वहाँ पहुँच कर पहले तो मैंने हिम्मत की कि सीढ़ियाँ चढ़-

कर अपने कमरे में पहुँच जाऊँ पर फिर कैसे भी हिम्मत नहीं हुई।

मैंने कहा—"भइया! तुम्हारे कमरे में ही पड़ जाऊँगी। अब मुझ से इतनी सीढ़ियाँ नहीं चढ़ी जाएँगी।"

उसने मुझे ले जाकर अपने बिछौने पर लिटा दिया। लेटते ही लगा जैसे मैं बेहोश होती जा रही हूँ। जब तबियत ठीक हुई तो मैंने उससे पूछा—"उस रोज तुम रो क्यों रहे थे?"

सुनकर उसने कोई जबाब नहीं दिया।

मैंने दुबारा उससे पूछा—'बताओगे नहीं? क्यों रो रहे थे?"

"दीदी! उसी दिन तार आया था। मेरी प्रेरणा अब इस धरती पर नहीं है।"

"क्यों क्या हुआ?"

वह एक बाल-विधवा थी। उसे पढ़ने के लिए मैंने हैदराबाद के आश्रम में भेज दिया था। उसका सारा खर्च मैं ही दिया करता था।"

"क्या नाम था?"

"अमिता।"

तब अमिता के उस 'अ' में मुझे सहसा एक निरीह प्रेयसी दीख गई। मैं अधीर होकर बोली—"क्या हुआ उसे?"

"सो तो कुछ पता नहीं चला पर तार में लिखा है कि वह अब इस धरती पर नहीं है और दाह संस्कार सब कुछ हो चुका है।"

"तुम जाओगे नहीं वहाँ?"

"कल जाऊँगा। आप ही के लिए यहाँ रुका था?"

"मेरे लिए?"

"हाँ दीदी! तुम से मुझे बहुत-सी बातें करनी थीं। बहुत-सी क्या सिर्फ यही-यही कि............।"

"बोलो-बोलो कहे जाओ।"

"दीदी! तुम यहाँ मत रहो।"

"तुम यहाँ कब से रह रहे हो?"

"एक साल से।"

"जाकर कब लौटोगे ?"

"मैं अब यहाँ नहीं लौटूँगा। त्याग-पत्र दे दिया है। स्वीकृत भी हो गया।"

"त्याग पत्र क्यों दे दिया। आजकल नौकरी कहाँ मिलती है ?"

"न मिले। दीदी सच कहता हूँ यहाँ के अन्न-पानी में मुझे चकले की दुर्गन्ध आती है। जब से मैंने इस आश्रम के बारे में तरह-तरह की बातें सुनी हैं और देखी हैं तब से एक-एक पल काटना कठिन हो गया है।"

ऐसे ही दिनों में आप आ गईं तब सोचने लगा अच्छे बुरे सब जगह होते हैं। कहाँ फिरूँगा मारा-मारा।"

"तुमने कैसे जाना कि मैं अच्छी ही हूँ ?"

"दीदी ! विश्वास करना। न जाने कैसे हर एक के बारे में मेरे अन्दर बैठा कोई धीरे-धीरे सब कुछ कह जाता है। और वह कभी गलत नहीं होता।"

७

पिछली रात तेज बुखार में मंत्री के यहाँ से चलकर शीत में बिना कुछ ओढ़े बच्चों के होस्टल तक आई थी और रात के समय काँच के शीशे पर जो दो छायाएँ देखी थीं उनका मन पर भारी असर था। शायद इन्हीं सब बातों को लेकर मेरा ज्वर बढ़ गया था। रात भर एक क्षण के लिए भी नींद नहीं आई। वह अध्यापक-कवि शायद कई रातों का जगा था। उसने जमीन पर अपना बिस्तर बिछाया और ऐसा सोया कि अभी तक पलकें नहीं खोली थीं। अभी सुबह का प्रकाश अच्छी तरह फैला भी न था कि मैंने बाहर कुछ लोगों की आहट सुनी। थोड़ी ही देर में वह मंत्री उसी लड़की के साथ कमरे में आ गया।

आते ही बोला—"अरुणा ! सारी जिन्दगी मैंने शासन ही

किया है ।"

"जानती हूँ ।"

"जानती हो और फिर भी एक पुरुष अध्यापक के कमरे में बिना इजाजत रात की अँधियारी में आकर कैसे सो गई । मुझे तो अभी रात के चौकीदार ने बताया कि............कि ....खैर कोई बात नहीं लेकिन अब तुम लोग यहाँ आश्रम में ठहर नहीं सकोगे । तुम जैसे लोगों के लिए यह आश्रम नहीं बनाया गया है ।

मैं तीखे स्वर में बोली—'सो तो मुझे रात ही पता चल गया था कि यह आश्रम कैसे लोगों के लिए बनाया गया है ।"

"जानती हो अरुणा कि तुम किसके सामने बातें कर रही हो ?"

"जानती हूँ और यह जानकर ही कह रही हूँ कि तुम्हारी इस धरती के शासन से ऊपर भी एक शासन है । तुम यहाँ अन्याय कर सकते हो पर वहाँ तुम्हारी पोल-पट्टी नहीं चलेगी ।"

सुनकर वह जोर से चिल्लाया—"अरुणा !"

मैं धीरे से बोली—"अपनी कमजोरी को इस तरह चीख पुकार कर क्यों छिपा रहे हैं ? घबराइये नहीं मैं किसी से कुछ नहीं कहूँगी । चुपचाप चली जाऊँगी ।"

"चली नहीं जाओगी ! तुम्हे जाना होगा ।"

मुझे अपने उस आवेश में यह ध्यान ही नहीं रहा कि वह अध्यापक कवि वहीं धरती पर सो रहा है । मंत्री की चीख पुकार सुनकर वह जाग गया था । जाग कर उसने जो कुछ सुना सो सुनकर वह शान्त कवि ज्वालामुखी की तरह भड़क गया ।

मंत्री जाते-जाते कह रहा था—"तुम जैसे चरित्र भ्रष्टों के लिए............।"

बीच ही में उस कवि ने दौड़ कर मंत्री की गर्दन धर दबोची पर मुंह से एक शब्द नहीं बोला । उस बंगालिन ने शोरगुल मचाया । पास ही चौकीदार खड़ा था । वह कवि पर टूट पड़ा । मंत्री और वह लड़की

वहाँ से चले गये।

जाते-जाते वह कह गया—"तुम लोगों ने मेरे साथ जो व्यवहार किया है उसका परिणाम भोगने के लिए तैयार रहो।"

हम लोग आश्रम छोड़कर जाने की तैयारी कर रहे थे। कवि अपना सारा सामान—सामान क्या अपना बिस्तर और अटेची लिए आगे-आगे जा रहा था और मैं धीरे-धीरे पीछे जा रही थी।

होस्टल के बच्चे दौड़-दौड़ कर मुझ से चिपट रहे थे। अनुराधा का रोते-रोते बुरा हाल था और आश्रमवासी मुझे ऐसे देख रहे थे जैसे पिछली रात मैंने कोई बड़ा अपराध किया है।

तभी मैंने देखा कि पुलिस इंसपैक्टर और कुछ सिपाहियों ने आकर हम लोगों को घेर लिया है। मंत्री के कमरे में फोन था। उसका सम्बन्ध पास ही के शहर से था।

इंसपैक्टर ने हमारा सामान खोलकर एक-एक चीज की तलाशी ली। मंत्रीजी भी टहलते-टहलते उधर आ गये। पुलिस ने उन्हें देखते ही दो कदम पीछे हट कर सैलूट मारा और इंसपैक्टर ने आगे बढ़कर कहा—"हुज़ूर गुस्ताखी माफ हो। इस लड़की और आदमी के बारे में आप का स्टेटमेन्ट चाहिये।"

मंत्रीजी के लिए वहीं आराम कुर्सी आ गई। वे उस पर बैठ कर बोले—"स्टेटमेन्ट मैंने पहले से ही लिख कर रख लिया था।" कह कर उन्होंने अपनी जेब से कुछ कागज निकाले और पुलिस के हवाले कर दिये।

उन कागजों को देखकर मंत्रीजी गम्भीर होकर बोले—"असल में ये दोनों बचपन से आवारा हैं। यह लड़का पहले चोर डाकुओं में शामिल था। उन लोगों में से छुड़ाकर मैंने इसे सुधारने की कोशिश की थी।"

सच बात यह थी जो कभी उस कवि ने मुझे बताई थी कि कवि विदेशी सरकार के खिलाफ कभी क्रान्तिकारी देश भक्त रहा था।

मेरे लिए वह मंत्री बोला—"यह लड़की भी आवारा है। एक ड्राइवर गुंडे के साथ से इसे छुड़ाकर यहाँ आश्रम में ले लिया था।

इसने अभी तक अपने घर का पता नहीं बताया है। इसके साथ सख्ती बरत कर पूछना चाहिये। लगता है यह बचपन से ही अपराध करती आ रही है। मैंने इन लोगों का हृदय परिवर्तन करना चाहा था पर हुआ नहीं।

मैं गुस्से में उफनती बोली—"उस बंगालिन का जैसा हृदय-परिवर्तन आपने किया है वह आप ही को............।"

बीच ही में पुलिस इंसपैक्टर ने कड़क कर कहा—"शटअप"

तभी वह कवि दहाड़ता बोला—"इंसपैक्टर तुम किसी को बोलने से नहीं रोक सकते। अपराध का फैसला तुम नहीं मजिस्ट्रेट करेगा।"

सुनकर वह इंसपैक्टर बोला—"वह तुम्हें थोड़ी ही देर में पता चल जाएगा कि फैसला मैं करता हूँ कि मजिस्ट्रेट।"

* * * *

कोतवाली में उस इंसपैक्टर ने मेरे सामने ही उस कवि के हाथ-पैर बँधवा कर बैंतों से इतना सड़ोका कि पिटते-पिटते बेहोश हो गया पर मुँह से एक आह भी नहीं निकाली बस दाँतों से होंठ भीचे सिर झुकाए चुपचाप पड़ा रहा।

मुझे पता ही न चला कि मैं कब अचेत होकर वहीं गिर पड़ी थी। जब मेरी आँख खुली तो मैंने अपने को सरकारी अस्पताल में पाया और निगरानी के लिए सामने खड़े पुलिस के दो सिपाही।

दूसरे दिन ही अख़बार में एक ख़बर पढ़ कर मैं फिर अचेत हो गई और सारे दिन उसी हालत में पड़ी रही। अस्पताल में मेरे प्राण बचाने के लिए ऊपर से नीचे तक भाग दौड़ मच गई। तरह-तरह के इंजेक्शन दिये गये और मुझे अन्दर ही अन्दर अख़बार की वह छोटी-सी ख़बर बेचैन किए जा रही थी।

अख़बार में लिखा था—"शैलेन्द्र नाम के एक युवक ने, जो राज्य के मंत्री श्री............ की हत्या करने के प्रयत्न में गिरफ्तार किया गया था, कोतवाली में आत्महत्या करके अपनी जान दे दी।"

शायद इस धरती पर मैं और उस कोतवाली की पुलिस ही जानती

थी कि उस कवि ने आत्महत्या की थी या उसके शरीर को तोड़ कर उसकी आत्मा को बाहर खींच लिया गया था। पर आजाद भारत के रोजनामचे, में उसे 'आत्म हत्या' ही माना गया था।

गुलाम भारत को आजाद कराने वाले जिस क्रान्तिकारी देश-भक्त को विदेशी सरकार न मार सकी, उसे आजाद भारत की पुलिस ने सहज ही में मार डाला था। अपनी ऐसी शूरवीर पुलिस के लिए मन ही मन विद्रोह-विक्षोभ की ज्वालाएँ उठती रहीं पर मैं कर ही क्या सकती थी।

* * * *

बीमारी में सवा महीना लग गया था। जब ठीक हुई तो न्याय का नाटक हुआ। मेरे पास वकील करने के लिए पैसा नहीं था और आज का न्याय बिना वकील और पैसे के मिल कैसे पाता ?

उस मन्त्री को कथित हत्यारे का साथ देने, आवारागर्दी और न जाने कैसे-कैसे अभियोगों, धाराओं को लेकर मुझे सात साल के लिए जेल भेज दिया गया।

पुलिस-मजिस्ट्रेट के सामने मुझे अपने घर का ठीक-ठीक पता बताना पड़ा था और तभी मेरे घर वालों को, मेरी लाड़ली सुजाता को पता चला होगा कि मैंने इस धरती पर कैसे-कैसे अपराध किए हैं।

उसी जेल में मेरे बचपन की सहपाठिनी मणि बहन मिली थी। उसे हम प्यार से मिन्नी कहते थे।

मिन्नी बचपन से ही बड़ी सीधी थी। उसके माँ-बाप बहुत गरीब थे। पैसे की ताकत पर एक बूढ़े ने इसे खरीद लिया था और निमंत्रण-पत्र पर छापा गया था कि मिन्नी का 'पाणि-ग्रहण' संस्कार हो रहा है।

कई वर्षों के बाद भी जब मिन्नी के कोई सन्तान नहीं हुई तो उसके सास-ससुर ने धमकी दी कि अगर सन्तान नहीं हुई तो उसे छोड़ दिया जाएगा और लड़के की दूसरी शादी की जाएगी।

इसी बात को लेकर मिन्नी दिन-रात बेचैन रहने लगी और एक

दिन वह ऐसी बात कर बैठी कि अपना सारा जीवन ही नष्ट कर डाला ।

एक दिन वह पागलों की तरह एक अस्पताल में गई और एक जच्चा का बच्चा लेकर अस्पताल से निकल भागी ।

दो दिन बाद पुलिस ने उसे उसी के घर में गिरफ्तार कर लिया। मुकदमा चला और जेल भेज दी गई ।

कैसा था हम दोनों का दुर्भाग्य कि बचपन में एकसाथ पढ़े, एकसाथ जेल में रहे और एक ही तारीख को हम दोनों जेल से छोड़े गए ।

उस तारीख पर और भी कई आदमी-औरतें छोड़े गए थे पर सभी के रिश्तेदार और जान-पहचान के लोग उनके स्वागत के लिए बाहर खड़े थे । हम दो ही ऐसे थे कि जेल के उस बड़े फाटक से निकले और चुपचाप सड़क पर आ खड़े हुए ।

अपने ही देश में हम परदेशियों की तरह भटकते रहे । अब तक मैं इस शहर का नाम बताने से हिचक रही थी पर अब मेरी जिन्दगी में जो घटने वाला है वह तो ऐसा है कि जिसकी याद करके आज भी मैं सिहर जाती हूँ सो उस शहर की ही अब हिचक मन में क्यों रखूँ ।

यह शहर जिसकी जेल में हम दोनों को रखा गया था । वह शहर जिसके अस्पताल में से मेरी सहेली बच्चे को लेकर भागी थी, उसका नाम है—अजमेर ।

हम दोनों सारे दिन इस शहर में भटकते रहे । भटकते-भटकते एक जगह मेरे पैर रुक गए । सामने ही पानी की पिआऊ थी । हम दोनों ने पानी पिया । साड़ी के छोर से मैं अपना मुँह पोंछ रही थी तभी मेरी आँखों ने पढ़ा—पुलिस स्टेशन ।

उस नाम को पढ़ते ही मुझे सात वर्ष पहले की एक-एक बात ऐसे याद आने लगी जैसे सब आज ही मेरे सामने घट रहा है । मैंने मिन्नी से कहा—'मिन्नी ! यही है वह जगह जहाँ पीट-पीट कर मुझ से जबरदस्ती यह लिखवाया गया था कि एक कवि ने इस प्रांत के एक मंत्री की हत्या

करने की कोशिश की। लेकिन कवि को यह नहीं बाँध पाए। ऐसे जीवों को कौन बाँध पाता है। वह इस शरीर का बंधन तोड़ कर ही सदा-सदा के लिए चला गया। आह! मैंने उसको कैसे-कैसे दुत्कारा। वह मुझे अपनी बड़ी बहन समझता था और मैंने अपने इस रूप के अभिमान में उसे क्या-क्या नहीं समझा था।"

मिन्नी! रात-रात भर वह आश्रम के उस पेड़ के नीचे अकेला चुपचाप इसलिए बैठा रहता था कि अगर वह मंत्री मुझ पर जोर-जुल्म करे– मैं मदद के लिए चिल्लाऊँ तो दौड़ कर मुझे बचाने के लिए आ जाए। देखो मिन्नी! इस धरती पर ऐसे-ऐसे जीव भी जन्म लेते हैं—शरीर धारण करते हैं कि दूसरों को अपने प्राण देकर भी बचाते रहें और जब नहीं बचा पाते तो चुपचाप यहाँ से चले जाते हैं। चुपचाप ....।" कहते-कहते मेरा गला रुँध आया।

तभी मिन्नी बोली—"अब यहाँ से जल्दी चलो। मुझे पुलिस के सिपाहियों से बड़ा डर लगता है।"

हम दोनों वहाँ से चलते-चलते अजमेर के आनासागर की ओर निकल गए। भूख बहुत जोर से लगी थी पर पानी पीने से लगा जैसे अभी प्राण निकलेंगे नहीं। मारे भूख के मिन्नी की तो जान ही निकली जा रही थी।

रास्ते में देखा कुछ भिखारियों, माँगने वालों की पंगत बैठी है और एक सेठानी आगे-आगे चल कर उनके हाथों पर चार-चार रोटियाँ डालती जा रही है। उसी के पीछे एक आदमी बाल्टी में दाल भरे चल रहा है। वह रोटियों पर एक बड़ा चम्मच भर कर दाल डाले जा रहा है।

बड़ी देर तक हम दोनों खड़े सोचते रहे कि दौड़ कर पंगत में खड़े हो जाएँ और हाथ पसार कर वे दान की रोटियाँ ले लें पर कैसे भी हिम्मत नहीं पड़ रही थी। तभी मिन्नी बोली—'अब शर्म काहे की। जिन्दगी भर जब इसी तरह कटनी है तो आज ही से क्यों न माँगें।" कहती-कहती वह जाकर उन भिखारियों की पंगत में बैठ गई पर मुझसे

किसी भी तरह वहाँ जाकर नहीं बैठा गया।

वह सेठानी और उसके नौकर-चाकर काले बाजार में कमाई सम्पति का पाप कम करने के लिए रोटियाँ बांट कर चले गये तब मिन्नी मेरे पास आई और बोली — 'लो थोड़ा-सा खाकर पानी पी लो।"

मैंने कहा — चलो, आनासागर पर खायेंगे। मैं कई बार उस मंत्री के साथ आनासागर पर आई थी। वह जगह न जाने क्यों मुझे के बहुत अच्छी लगती थी।

हम दोनों ने आनासागर पर जाकर दो-दो रोटियाँ खाईं। नल पर पानी पिया और साँझ के समयआना सागर के किनारे बैठ गये। दोनों इस चिन्ता के मारे मरे जा रहे थे कि रात कहाँ बिताएँगे। किताबों उपन्यासों, फिल्म के परदे पर तरह-तरह की बातें पढ़ी-देखीं थी कि शहरों में कैसे-कैसे गुंडे-बुरे आदमी होते हैं जो हमारी तरह अकेली घूमने वाली औरतों को पकड़ ले जाते हैं और फिर उनके साथ कैसे कैसे अनाचार करते है। हम दोनों ही इसी बात को सोच-सोच कर मरे जा रहे थे।

तभी मेरी आँखों ने जिसे देखा — सो देखते ही मेरे उड़ते प्राण वापस शरीर में लौट आये।

आना सागर के किनारे बड़े पत्थर पर बैठे एक महात्मा डूबते सूर्य को बड़े तन्मय होकर देख रहे थे।

उन्हें पहचानते मुझे एक क्षण भी नहीं लगा। यह वही महात्मा थे जिन्हें मैंने मैनपुरी के मन्दिर में देखा था और जिनकी याद उस दिन के बाद एक पल के लिए भी मैं न बिसार पाई थी।

वे महात्मा इस तरह अडिग—स्थिर बैठे थे जैसे कोई पत्थर की प्रतिमा हो। उनका रंग गोरा था। उस पर पड़ रही थी साँझ की गुलाबी पीली छाया। उससे लग रहा था जैसे किसी कलाकार ने आना सागर के किनारे किसी शिला पर सोने की प्रतिमा गढ़ दी है।

जब सूरज डूब गया तब अपनी अंगुलियों से धीरे-धीरे आँखें दबाते रहे अंत में कमंडल उठा कर वे वहाँ से चलने के लिए

तैयार हुए।

कुछ देर तक मैं सकुचाई सोचती रही ये महात्मा लोग हैं। कितने लोग इन्हें जीवन में मिलते हैं। उस दिन मेरा भजन इन्हें अच्छा लगा था। कण्ठ अच्छा लगा था—उसी को लेकर वैसी बातें कह गये थे—कहा था—कितने जन्मों से मैं तुम्हें खोज रहा हूँ। आज मेरी साधना को सिद्धि मिल गई।

तभी ध्यान आया—इतनी बड़ी बात कहने वाले क्या मुझे सचमुच ही भूल गये होंगे।

यह एक बात मन में आते ही मैं पागलों की भाँति दौड़ती उनके समीप जा खड़ी हुई। और यह जान कर तो मैं अचरज में ही डूब गई कि साँझ के उस धुँधलके में भी उन्हें पहचानते एक क्षण नहीं लगा।

मुझे देखते ही वे बोले—"कल्याणी ! तुम यहाँ कैसे ?"

उस दिन मंदिर में भी उन्होंने मुझे 'कल्याणी' ही कहा था। उनके मुँह से अपना यह नया नाम मुझे बहुत अच्छा लगता था।

सुन कर सोचने लगी—यह सभी को कल्याणी कहते हैं या यह मंगलमय नाम मुझी को ही दिया गया है। तभी वे बोले—"यह देवी भी तुम्हारे ही साथ हैं ?"

न जाने क्यों उस समय—ऐसी बेला में वहाँ मिन्नी का होना मुझे बहुत अखरा था। चाहती थी—मिन्नी वहाँ न होती। मुझे लग रहा था कि अकेले में मुझे उन महात्मा से इतनी बातें करनी हैं कि शायद सारे जीवन हम दोनों बैठे रहें तो भी समाप्त न हों।

मैंने देखा कि मिन्नी भी वहाँ आकर खड़ी हो गई है।

वे मिन्नी को देख कर बोले—"यह देवी तुम्हारी कौन है कल्याणी ?"

मैंने उनकी बात का अभी तक कोई उत्तर नहीं दिया था। मैं अपने ही में डूबी सोचने लगी—नहीं वे सब को कल्याणी नहीं कहते। यह पुनीत नाम 'कल्याणी' मुझी को ही मिला है। अकेले मुझी को ही।

आनासागर के किनारे उस
साँझ की बेला में मेरे साथ जो
घट गया उसे देख कर तो यही
लगता है कि मनुष्य के जीवन का
जैसे पल-पल, क्षण-क्षण निश्चित है।
सोचती हूँ अगर ऐसा न होता तो जिसकी
याद में, जिसे एक बार देख पाने के लिए मैं
तड़पती आ रही थी सो अचानक ऐसे संकट के समय कैसे मिल पाते।

८

मैं आनासागर के किनारे खड़ी उनसे बातें कर रही थी और रात की अँधियारी घिरती आ रही थी। तभी वे गुरु-गम्भीर स्वर में बोले—"कल्याणी ! रात हो रही है। अब यहाँ ऐसे-ऐसे महात्मा लोग इकट्ठे होने वाले हैं कि जिनके सामने हमारे विधाता की भी एक नहीं चल पाती। बताइये आपको किधर जाना है ? मैं छोड़ आऊँगा।"

सुन कर मेरी हिम्मत ही न हुई कि मैं उन्हें साफ-साफ कह दूं कि

हम लोग एक लम्बे समय तक चोर डाकुओं के साथ जेल में रहे हैं और उसके बाद अब इस धरती पर कहीं भी हमारा ठिकाना नहीं है ।

मैंने बहुत चाहा कि सब साफ-साफ कह दूं पर मैं क्या करती ? मेरे दांतों के बीच मेरी जीभ तालू से ऐसे चिपकी कि किसी भी तरह उसे हिला-डुला न पाई ।

मेरी सहेली बड़ी सीधी-साधी थी । वह बिना किसी हिचकिचाहट के बोली—"साधूजी ! आज की रात आप अपने यहाँ हमें रहने देंगे ?"

सुन कर उन महात्मा को कैसा लगा सो तो मैं रात के अन्धकार में नहीं देख पाई पर उनकी आवाज से मैं समझ गई कि उन्हें अचरज बहुत हो रहा था ।

थोड़ी देर तक हम सब वहीं, जहाँ के तहाँ चुपचाप खड़े रहे । हवा साँय साँय कर रही थी और आनासागर के उस पार कहीं दूर कोई टिटहरी जोर-जोर से बोले जा रही थी ।

वे धीमे स्वर में बोले—"आइये कल्याणी ।"

हम दोनों उनके पीछे-पीछे चुपचाप चलने लगे । थोड़ी ही देर में पहाड़ी के ऊपर बने एक आश्रम के द्वार पर जाकर वे खड़े हो गये ।

थोड़ी देर उस द्वार पर खड़े कुछ सोचते रहे फिर बोले—'आइये कल्याणी !"

आश्रम में तीन कमरे थे । सामने मैदान था जिसमें पेड़-पौधे थे । एक कमरे के सामने धूनी जल रही थी । जाड़े के दिन थे । हम दोनों के पास पहनने के लिए मामूली कपड़े थे । अब मारे जाड़े के कँप-कँपी लग रही थी । हम बिना महात्माजी से कुछ कहे-सुने उसी धूनी के सामने जाकर बैठ गये । महात्माजी ने आकर एक कमरे में प्रकाश किया । मैं बैठी तो धूनी के समीप थी पर मेरी निगाह उन महात्मा के पीछे-पीछे ही भटक रही थी । वे अपने साथ दो गर्म चादरें लाये और हम लोगों के सामने रख कर बोले—"आज बहुत जाड़ा है । इन्हें ओढ़ लीजिए ।"

मैंने उनमें से एक उठा कर मिन्नी को दे दी और दूसरी खुद ओढ़ ली। महात्माजी ने दूसरे कमरे में जाकर प्रकाश किया। कमरे के नीचे चटाइयाँ बिछीं थीं। मैंने धूनी के सामने बैठे-बैठे ही देखा कि वे महात्मा कमरे में हम लोगों को सुलाने की फिक्र में कुछ बिछा-बिछू रहे हैं।

मैं उठी और जाकर बोली—"आप यह कष्ट क्यों कर रहे हैं। हम लोग सब ठीक कर लेंगे"

कह कर मैंने उनके चेहरे की ओर देखा। अभी तक उनके चेहरे पर एक गहरी गम्भीरता-सी छाई थी, मेरी बात सुन कर वे सहज हो आये। बोले—"जिसे उस विधाता ने आज अनायास ही मेरे समीप भेज दिया है सो उससे मुझे क्या कष्ट हो सकता है। आप अगर इस तरह सोचेंगी तो सचमुच ही मुझे कष्ट होगा।"

तब तक मिन्नी भी उस कमरे में आ गई। हम दोनों ने मिल कर बिस्तर बिछाया। महात्माजी अपने कमरे में चले गये।

उनकी कुटिया पास ही थी। मिन्नी जब लेट गई तो मैं उठी और उनकी कुटिया के समीप जा खड़ी हुई।

महात्माजी एक बड़े केले के पत्ते पर हम लोगों के लिए खाने-पीने के लिए सूखे फल और चने-गुड़ रख रहे थे।

मैं उनकी कुटिया के सामने खड़ी थी। उन्होंने उस केले के पत्ते को मेरे सामने इस तरह सरका दिया जैसे जमीन की ओर देखते-देखते भी वे मुझे देख रहे हैं। मैं उस पत्ते को बिना कुछ कहे-सुने उठा लाई। हम दोनों ने महात्मा की उस प्रसादी को खाया और महात्मा की दी पीतल की बाल्टी से पानी पिया।

* * * *

हम हारे-थके थे सो बेहोशी की नींद सो गये। आधी रात के समय अचानक मेरी नींद टूट गई। मैंने कम्बल ओढ़े-ओढ़े ही देखा कि वे महात्मा सामने ही धूनी के पास चुपचाप बैठे हैं।

धूनी के धीमे गुलाबी प्रकाश में उनका चहरा दीप्त हो उठा है।

वे पलक मूँदे पद्मासन पर बैठे थे। जिस चेहरे को एक बार जीवन में और देख पाने के लिए मैं इतने दिनों से तरसती आ रही थी सो उसी को अपने कमरे में लेटे-लेटे मैं चुपचाप देखने लगी। उस चेहरे को देखते-देखते कुछ देर तक तो मैं एक तरह के आनन्द में सिहरती रही फिर न जाने क्या सोचकर एकाएक काँप गई। तभी मैंने देखा महात्मा ने आँखें खोल दी हैं। उनके चेहरे पर एक प्रकार की दयनीयता-सी बिखर गई है।

उन्होंने पास पड़े लोहे की एक सलाख से धूनी की लकड़ियाँ ठीक कीं। अग्नि का प्रकाश बढ़ गया और कुण्ड अधिक दीप्त हो उठा। अब मैंने देखा कि वे धीमा-धीमा, मीठा-मीठा मुस्करा रहे हैं।

पर उस मुस्कराहट के साथ मुझे उनकी वही मुद्रा दिखने लगी जो मैनपुरी के मन्दिर में उस बुढ़िया के समीप देखी थी। जब उन्होंने उस बुढ़िया से कहा था—

"माँ! तुम्हारे इस कलुष भरे मन के लिए मैं सदा अपने भगवान् से प्रार्थना करता रहूँगा।"

मेरे मन में भय और आशंका की एक बिजली-सी कौंध गई। सोचने लगी तो क्या इन्होंने मेरे मन की वह बात भी जान ली है जो अभी-अभी एक क्षण के लिए लहर की भाँति मेरे मन में उमड़ आई थी। यह ध्यान आते ही मारे लाज के पानी-पानी हो गई। मैंने कम्बल खींच कर अपना मुँह छिपा लिया। पर कम्बल के छेदों से अब भी मुझे उन महात्मा का चेहरा दिख रहा था।

कम्बल के छिद्रों से उन्हें देखना ऐसा लगा जैसे इस धरती से कहीं दूर आकाश में किसी लाल तारे के समीप वे महात्मा स्थिर हैं। उनके चारों ओर बादलों की पतली सफेद चादर आवृत है और मैं धरती पर बैठी उन्हें निहारे जा रही हूँ।

सहसा बादलों का वह हलका परत मोटा होता गया और धीरे-धीरे बादलों का वह परदा इतना मोटा और काला हो गया कि महात्मा का

भव्य चेहरा उसमें ओझल हो हो गया। मैंने अपने चेहरे से कम्बल को हटा दिया तो देखा धूनी की आग मन्दी पड़ गई है और वे महात्मा वहाँ से उठ कर चले गये हैं।

उसके बाद रात भर जागती उस बुझती धूनी की ओर देखती रही पर न तो वह धूनी फिर जली और न वे महात्मा ही उधर आये।

सुबह चार-पाँच बजे होंगे तब मुझे लगा कि महात्मा जाग गये हैं और उठने की तैयारी कर रहे हैं।

सुबह होते-होते धुँधला-धुँधला प्रकाश हो आया था। उसी में मैंने देखा कि सामने के नल पर महात्मा स्नान करके आये, धूनी जलाई और एक गर्म चादर ओढ़ कर पलक मूँदे पद्मासन में बैठ गये।

अब जो मैंने उन्हें देखा तो लगा जैसे कोई बड़ा गुलाबी कमल पंखुरियाँ फैला कर अभी-अभी खिल आया है। मैंने कभी नहीं जाना था कि इस धरती पर सौन्दर्य नाम की भी कोई चीज होती है।

कई बार किताबों में पढ़ा था—सत्यं-शिवं-सुन्दरम् पर इससे पूर्व कभी इसका मर्म नहीं जाना था। आज लग रहा था कि जैसे सत्यं-शिवं सुन्दरम् तीनों एक आकार में समाहित हो मेरे सामने आ बैठे हैं।

जितना ही मैं उन्हें देखती थी, उतना ही अधिक उनके चारों ओर झीना-झीना सौन्दर्य निखरता जा रहा था।

ये मैंने देखा कि उनके चेहरे पर एक मीठी मनोहारी मुस्कान बिखर आई है। उस मुस्कान को देख कर तो मेरे सारे शरीर में एक कँप-कँपी-सी फैल गई। लगा जैसे धक् से मेरी साँस ही रुक गई है। समझ नहीं पा रही थी कि एकाएक यह जाड़े की लहर कहाँ से मेरे रोम-रोम में उमड़ आई है। मेरी दाँती धीरे-धीरे बज रही थी।

तभी मिन्नी की आँख खुल गई। मैंने पहले ही बताया था कि वह सदा से सीधी-साधी रही है। कभी मन की बात नहीं छिपाती, कभी किसी को खुश-या नाराज करने के लिए बात नहीं कहती। उसके मन में जैसा जो कुछ भी होता है वह बिना सोचे-विचारे कह डालती है और किसी

बात के लिए जब उसका मन तड़प उठता है तो करके छोड़ती है। अपनी इस आदत को लेकर ही उसे इतनी लम्बी जेल काटनी पड़ी थी।

मुझे इस तरह कांपती देख बोली—"जाड़ा लग रहा है। आओ मेरे पास आ जाओ।" कहते-कहते उसने मुझे अपनी बाहों में भर अपनी ओर खींच लिया।

किसी के इतने निकट बैठना, लेटना मुझे अच्छा नहीं लगता पर उन क्षणों में जिस तरह मिन्नी ने मुझे अपनी ओर खींच लिया सो बहुत अच्छा लगा था। मैंने आँखें बन्द करलीं।

मुझे लग रहा था जैसे इस धरती से उठ कर धीरे-धीरे मैं कहीं आकाश में उड़ी जा रही हूँ—उड़ी जा रही हूँ फिर मुझे चेत ही न रहा कि मैं कहा हूँ।

जब मिन्नी ने मुझे जगाया तो देखा चारों ओर पीली-पीली धूप फैल गई है और वे महात्मा सामने की फुलवारी में धीरे-धीरे घूम रहे हैं।

इतनी देर तक सोती रही यह जान कर अन्दर ही अन्दर मारे लाज के गढ़ गई।

मिन्नी बोली—"जल्दी से उठ कर नहा धो लो। उधर स्नान घर है।" मैं बोली—"अब उधर कैसे जाऊं? बाहर तो महात्मा घूम रहे हैं। मुझे तो शर्म आ रही है।"

सुन कर मिन्नी झुंझला आई। बोली—"ऐसे तुम्हारा काम कैसे चलेगा। अरे यह क्या हमारा घर है। बेचारे महात्मा ने जगह दे दी यही क्या कम है। अब तुम चाहती हो कि वे यहाँ से बाहर ही निकल जायें। यह कैसे हो सकता है।"

उसकी बातों से मुझे हँसी आ गई और क्लेश भी कम नहीं हुआ। असल में मुझे अपने संकोची स्वभाव पर ही गुस्सा आ रहा था।

मैं बैठी-बैठी अपने स्वभाव की बात सोच रही थी। मुझे पता ही न चला कि वह मिन्नी कब मेरे पास से चली गई है। तभी मेरे कानों ने सुना। वह कह रही थी—"महात्माजी! जरा आप बाहर चले जाइए।

हमारी सहेली कहती है ।"

सुन कर मुझे लगा कि सारा शरीर सुन्न पड़ गया है । मेरे कानों में साँय-साँय होने लगी । मुझे मिन्नी पर बहुत गुस्सा आया पर करती क्या ?

मिन्नी की बात सुन कर महात्मा के चेहरे पर एक मीठी मुस्कान-सी बिखर गई । वे बिना कुछ कहे बाहर चले गये ।

मैं नहा-धोकर धूप में आ बैठी । सोच रही थी—यह महात्मा ठहरे ! इनके पास न जाने खाने-पीने के लिए कुछ होगा या नहीं ? इनका काम कैसे चलता होगा ? क्या भिक्षा लेने दूसरे सन्यासियों की भांति यह भी जाते होंगे ? नहीं-नहीं यह कभी किसी के द्वार पर नहीं जाते होंगे ।

ऐसी ही न जाने कितनी बातें बैठी-बैठी सोच रही थी । मिन्नी हाथ में झाड़ू लिए महात्मा के कमरे और धूनी की जगह साफ करने में जुटी थी। तभी देखा महात्मा लौट आए हैं और साथ में साइकिलरिक्शा चलाने वाला है । उसके रिक्शे में बहुत-सा सामान है ।

मिन्नी ने दौड़ कर वह सामान कमरे में पहुँचाने में मदद की पर न जाने क्यों इस तरह के काम करने, उनके सामने उठने-बैठने तक में मुझे शर्म आ रही थी ।

रिक्शावाला जब चला गया तो महात्मा मेरे समीप आ कर खड़े हो गये । मुस्कराते बोले --"कल्याणी ! यह खीर खाने के लिए आपको कहाँ से मिल गई थी ।"

मैं उनकी वह बात सुनकर बड़े अचरज से बोली—"खीर ? कौन-सी खीर ?"

"वही जिसे खाकर सीताजी ने अशोक वाटिका में वर्षों कुछ नहीं खाया था । इतनी देर हो गई । क्या अभी तक भूख ही नहीं लगी । रात भी तुम भूखी ही सो गईं थी । आओ, चलें भोजन कर लें ।"

उनकी वह बात सुनकर मैं समझ पाई कि वे कोरे महात्मा ही नहीं हैं, विनोद करना भी जानते हैं ।

हम लोग केले के पत्तों पर भोजन कर रहे थे तब महात्मा ने बड़े सहज हो कर आनन्द भरे स्वर में कहा—"मैं नहीं जानता था। गृहस्थ होने का भी एक अलग से आनन्द है। कितने समय से अकेला खाता-पीता आया हूँ। कभी जान ही नहीं पाया कि कब क्या खाया? पर आज एक-एक चीज का स्वाद, एक-एक ग्रास का रस ले पा रहा हूँ।"

उनकी वह बात सुनकर मैं अन्दर ही अन्दर भर आई। उन क्षणों में एक ही कामना मेरे मन में जागी थी कि इन्हें अपने हाथ से पका कर संसार की अच्छी से अच्छी चीजें बना कर खिला पाती। यह खाते और मैं बैठी-बैठी उन्हें निरखती।

ऐसी ही अपनी इच्छित कामनाओं और दिवा-स्वप्नों में डूबी बैठी थी। तभी मिन्नी बोली—"स्वामीजी! अगर यही बात है तो आप शादी क्यों नहीं कर लेते?"

सुनकर मारे लाज के मेरे कान गर्म हो गये पर महात्माजी को कुछ भी नहीं हुआ। हँसते-हँसते बोले—"देवी! मैं अब कैसे शादी कर सकता हूँ। संसार में एक ही बार शादी करने का विधान है सो एक शादी तो कर चुका हूँ।"

सुनकर मैं अन्दर-ही अन्दर मर गई। सोचने लगी—इनकी शादी हो चुकी है। किसके साथ हुई होगी? इस धरती की वह कौन-सी भाग्यवती लड़की होगी?

मिन्नी अचरज से बोली—"आपकी शादी हो गई? भाभी कहाँ है?"

सुनकर वे खिलखिला कर हँस पड़े। बोले, "तुम्हारी भाभी ने ही तो यह भोजन पकाया है। यह एक-एक साँस मैं उसी की दी हुई तो ले रहा हूँ।"

"पर वह हैं कहाँ? किधर रहती हैं?"

"वे सदा मेरे पास रहती हैं। एक पल को भी उन्हें अपनी आँखों से दूर नहीं कर पाता। वे मेरे रोम-रोम में व्याप्त हैं। वे हवा में उड़ने वाले एक-एक कण में बैठी हैं।"

सुनकर मिन्नी ने भोजन करना तो बन्द कर दिया। हाथ का ग्रास

हाथ ही में रह गया। वह अचरज के साथ महात्मा के मुँह की ओर देखे जा रही थी। उसकी उस मुद्रा को देख कर मुझे हँसी आ गई। और महात्माजी मुस्कराते उठकर चले गये।

उनके वहाँ से चले जाने पर वह दबी जबान से बोली—"सुना तुम ने ? क्या कह रहे हैं ? लगता है यह रात को जाकर मसान जगाते हैं ! इन्होंने किसी प्रेत-छाया से शादी की है।"

सुनकर मैं खिलखिला पड़ी। कितने वर्षों बाद आज हँसी थी। मुझे हँसता देख वह बोली—"अरी ! यहाँ से जल्दी चल। अगर कोई छाया हमारे पीछे पड़ गई तो सारी जिन्दगी बरबाद हो जायेगी। ये छायाएँ तो ऐसी होती हैं कि अगर नाराज हो जाएँ तो प्राण लेकर ही छोड़ें। हमारी एक मौसी थी। उनसे एक छाया नाराज हो गई थी। कभी-कभी तीन-तीन, चार-चार दिन तक वे भूखी प्यासी पड़ी रहती थीं।

भोजन करने बैठे तो थाली का खाना उड़ जाए और थाली में हड्डी की बोटियाँ आ पड़ें। दूध-पानी पिएँ तो गिलास में लाल-लाल खून भर जाए।"

सुनकर मेरी हँसी रोके नहीं रुक रही थी और वह अपनी छाया की बातें बताती-बताती मारे भय के पीली पड़ी जा रही थी।

तभी मैंने हँसी रोक कर कहा—"पगली ! यह वैसे महात्मा नहीं है जो मरघट पर जाकर भूत-प्रेतों को सिद्ध करें। यह तो अपने भगवान् की बात कर रहे थे। कह रहे थे कि भगवान् से ही शादी कर ली है। उन्हीं के लिए कह रहे थे कि हवा के कण-कण में व्याप्त हैं। समझी ?'

सुनकर उस पगली की साँस में साँस आई। मिन्नी जब किसी बात पर बहुत खुश होती थी तो अपने गाँव की बोली बोलने लगती थी। मेरी बात सुनकर उसके होठों की कोरें मारे खुशी के काँपने लगीं। होठों को समेटती बोली—"हाय राम ! जे महात्मा हैं बड़े दिल्लगीबाज ! मैं तो डर के मारे मरि गई थी।"

९

महात्माजी के आश्रम में पहला दिन बड़ी मुश्किल से कटा था। सारे दिन यही सोचती रही कि हमारी वजह से इन्हें बहुत कष्ट हो रहा है। आस-पास जान-पहचान के लोग जब सुनेंगे कि इनके साथ दो स्त्रियाँ रहती हैं तो लोग न जाने कैसी-कैसी कहानियाँ गढ़ कर एक दूसरे को सुनाएँगे। इसी चिन्ता-फिक्र में एक दिन बीत गया। उस दिन साँझ बीत गई थी, रात घिरती आ रही थी। महात्माजी बाहर के चौक में घास पर बैठे थे। हम दोनों भी उनके समीप बैठी थीं। उस दिन पहाड़ी की चोटी पर दूज का चाँद उग आया था।

महात्माजी उसी ओर देखते-देखते मिन्नी से बोले—"देवी ! देखो तुम्हारी भाभी ने कैसा शृंगार किया है। आज माथे पर जगमगाता

शीश-फूल बाँधा है।"

सुन कर मिन्नी बोली—" फिर वही !"

वह मेरी ओर देख-देख कर हँसने लगी।

कुछ देर बैठी हँसती रही फिर मुझ से बोली—"मुझे तो नींद आ रही है। जाऊँ ?"

मैं नहीं चाहती थी कि वह वहाँ बैठे। सो धीरे से कहा—"चली जाओ।"

उसके बाद हम में से कोई भी न बोला। तब रातके उस सन्नाटे को तोड़ कर महात्माजी ही धीमे स्वर में बोले—"कल्याणी !"

"मैंने दबे स्वर में कहा —"जी !"

"जानती हो शब्द ही ब्रह्म है।"

"कहीं पढ़ा तो है।"

"आज से जान लो यह शब्द ही है जो हमारे प्राण ले सकता है और प्राण लौटा भी सकता है।"

"आप ऐसी बात क्यों कह रहे हैं ?"

"जो शब्द, जो स्वर कभी मैंने एक मन्दिर में सुना था सो तभी से ऐसा लग रहा है जैसे उसी शब्द से बंधा मैं धरती पर दिन-रात भटके जा रहा हूँ।"

"लेकिन आपने तो कहा था कि आपकी उपासना को सिद्धि मिल गई फिर वह स्वर आपका बंधन कैसे बन गया ?"

उस दिन, उन क्षणों में यही लगा था पर उसके बाद लगा कि जब तक हम इस शरीर के आकार में बंधे हैं तब तक मुक्ति नहीं मिल पाती। पग-पग पर यही स्वीकार करना पड़ता है कि हम सब कहीं न कहीं बंधे हैं—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, तारे सब।

मेरे गुरुजी का तो अन्तिम समय इतना क्लेश बढ़ गया था कि हर समय एक उदासी-सी उनके चेहरे पर छाई रहती थी।"

"क्यों ?"

असल में वे हिमालय की तराई में बसी एक छोटी-सी रियासत के

महाराज थे। कहते थे उस रियासत का शासन सम्भालते-सम्भालते उन्हें लगा कि शासन बिना हिंसा, बिना पीड़न दिये नहीं चल पाता और किसी को क्लेश देना उनके वश की बात नहीं थी।

एक दिन वे बिना किसी से कुछ कहे-सुने चुपचाप चले आए थे। फिर नैपाल, तिब्बत, भूटान और सारा भारत उन्होंने छान मारा पर मुक्ति देने वाला कोई गुरु नहीं मिला। अन्त में सिद्धि मिली थी उन्हें कलकत्ते के बैलूर मठ में रामकृष्ण परम हंस के चरणों के समीप।

"अपने अन्तिम समय में वे दुखी क्यों रहते थे ?"

"उनका दुख अपने लिए नहीं था। दुख था प्राणिमात्र के लिए। कल्याणी ! एक दिन इसी आश्रम में इसी जगह हम दोनों बैठे भक्ति-चर्चा कर रहे थे। सुबह का समय था। एक कौवा आया और एक छोटे-से चिड़े को चोंच में दबा कर उड़ गया। उड़ कर सामने वाले पेड़ पर बैठ गया। तब सामने ही उन्होंने देखा कि एक चिड़ी पूँछ हिलाती, चिड़-चिड़ करती, छटपटाती एक डाल से दूसरी डाल पर उठती-बैठती बेचैन हो रही है।"

संसार से बीतराग उन महात्मा को उस दिन न जाने क्या हुआ। वे उठे और कंकड़ उठा कर कौवे के मारा। कौवा घबरा कर उड़ गया और उसकी चोंच से वह चिड़ा छूट पड़ा। गुरुजी ने दौड़ कर उस बेहोश चिड़े को अपनी झोली में ले लिया। उन्होंने कमंडल से पानी लेकर उसकी चोंच में डाला।

चोंच में पानी पड़ते ही एक झटके के साथ उसने गर्दन को हिलाया और पंख फड़फड़ाए।

जब हम लोग उसे पानी पिला रहे थे तब हमारे पास ही वह चिड़ी छटपटाती इधर-उधर उड़ती फिर रही थी।

गुरुजी मुझे लेकर वहाँ से उठ आए और मेरे साथ खड़े मृत्यु के मुँह से बचे उस चिड़े को और भाग्य से पुनः लौटे अपने प्राणों को प्राप्त करने वाली चिड़ी को देख रहे थे।

चिड़ी बार-बार उस चिड़ा के चारों ओर चक्कर काटे जा रही थी। चक्कर काटते-काटते उसकी चोंच, गर्दन और पंखों पर अपनी चोंच धीमे से रख लेती थी।

मैंने गुरुजी को देखा तो मारे अचरज के देखता का देखता रह गया। संसार की ओर से आँखें बंद किए अपने अंदर ही रमे अपने गुरुजी की आँखों से झरते आँसुओं को देख कर मैं आश्चर्य-चकित रह गया था।

तभी उन्होंने मुझे देखा। देख कर मुस्कराए और आकाश की ओर देख कर बोले—"सब उसी की मर्जी है। सारे जीवन का चैन आज एक क्षण में छीन लिया है। ऋषि बाल्मीकि ने अपने जीवन में न जाने कैसे-कैसे अत्याचार देखे होंगे किये होंगे, पर एक क्षण ऐसा आया कि वधिक के तीर से बिंधे पक्षी के क्लेश ने उनके अंदर एकाएक विक्षोभ के ज्वालामुखी जगा दिए थे।

समझ नहीं पाता क्या मर्जी है मेरे भगवान की ? भगवान के इस राज्य में यह हिंसा, यह क्लेश क्यों है ?

कह कर वे महात्मा चुप हो गए। तब मैं ही धीरे से बोली—"फिर क्या हुआ ?"

"उसके बाद कुछ दिनों तक तो वे दिन-रात दुखी उदास बैठे रहते थे। उनका वह क्लेश कैसे भी मुझ से देखा नहीं जाता था।"

"जब उन्होंने अपना राज्य छोड़ा था तब उनकी रानी जिन्दा थी ?"

"हाँ, जिन्दा थीं।"

"तुम यह क्यों पूछ रही हो ?"

"क्या उनके क्लेश के पीछे वही आत्मा नहीं रही होगी ?"

"हो सकता है ? और नहीं भी हो सकता क्योंकि उन्होंने उनके बारे में कभी मुझसे चर्चा नहीं की।"

"चर्चा न करने से क्या होता है। जिसके बारे में हम कभी चर्चा नहीं करते शायद वही होता है जिसको लेकर हम जी रहे होते हैं।"

वे अचरज से बोले—"तुमने यह कैसे जाना ?"

"कैसे ही जान लिया है पर लगता है कि यह है सत्य।"

"हाँ कल्याणी ! लगता है यही इस दुनिया में परम सत्य है। नहीं तो जिसके बारे में उन्होंने मुझ से एक शब्द नहीं कहा सो अपने अन्तिम क्षणों में उन्हीं को क्यों याद किया था।"

"क्या कहा था ?"

अन्तिम समय आँखें खोले कह रहे थे—"अच्छा हुआ राज श्री ! कि तुम आ गई। नहीं तो मैं तुम्हें कहाँ खोजने जाता ....कहाँ जाता।"

कह कर उन्होंने आँखें बन्द कर लीं .. आँखें बन्द करके धीरे-धीरे बोले—"मुक्ति ....मु ...... क्ति ...... मुक्ति।"

जब शरीर के उस पिंजर से उनकी आत्मा उड़ गई तब लगा कि उनके मृत चेहरे पर अपूर्व शान्ति-सी छा गई है। तुम्हारी बात सुनकर आज मुझे भी लग रहा है कि वे अपने सारे तपसी जीवन में उन्हें मन से कभी नहीं निकाल पाए थे।"

'रानी जीवित हैं ?"

"नहीं उनके राज्य छोड़ने के बाद ग्यारह दिन जीवित रहीं थीं। और जिस दिन उनका प्राणान्त हुआ उस दिन स्वप्न में गुरूजी को संदेश भी दे गईं थीं कि वे इस लोक से जा रही हैं। यह बात एक बार बड़े क्लेश से उन्होंने मुझे सुनाई थी।"

कह कर वे चुप रहे फिर बोले —कल्याणी ! जब तक गुरू जीवित थे, मुझे लग रहा था कि मैंने वह सब कुछ पा लिया है जिसका पाना ही सब कुछ होता है पर उस दिन की घटना के बाद, गुरू की उस उदा ी के बाद से मुझे लग रहा है कि मेरा वह पाना ही अन्तिम पाना नहीं है। उसके बाद भी कुछ है जिसके पाए बिना हमारी आत्मा पंख कटे पक्षी की भाँति इस शून्य आकाश में सदा तड़पती रहती है।"

सुनकर मैं दबे स्वर में बोली—"आजकल आपको कैसा लग रहा है।"

"मुझे लग रहा है जैसे मेरी समस्त इंद्रियाँ भाव-शून्य हो गई हैं। जैसे उन्होंने अपनी शक्ति खो दी है। एक प्रकार की शून्यता ने चारों ओर से मुझे ग्रस लिया है। उसी से घिरा मैं इस धरती पर चुपचाप घूम रहा हूँ। मुझे सदा यही लगता है कि जिसके लिए मैंने संसार को छोड़ा था सो मुझसे बहुत दूर चला गया है।"

थोड़ी देर हम दोनों चुप बैठे रहे तब मैं ही बोली—"आप शब्द-स्वर-वचन की क्या बात कह रहे थे। मैं समझी नहीं।"

सुनकर बड़ी देर तक वे मौन रहे। फिर अपने बदन को अच्छी तरह गर्म चादर से लपेटते बोले—"कल्याणी! तुम मुझे गलत मत समझना। उस दिन मंदिर में तुम्हारा स्वर सुनकर मुझे लगा था कि शून्य के उस अन्तराल,से उस विराट के समीप्य से आकाश की शून्यता को भरती,तुम्हारे स्वर में बँधी, रह-रह कर ऐसी लहरें आ रही हैं जिनसे मेरे जीवन के समस्त ताप मिटे जा रहे हैं।

जैसे तुम्हारा स्वर मेरी अँगुली थामें एक ऐसे लोक में लिए जा रहा है जहाँ इस धरती के समस्त संताप-क्लेश मिट जाते हैं।

मेरे गुरू ने भी तुम्हारा स्वर सुना था। उस स्वर को सुनकर उन्होंने कहा था——विवेकानन्द के इस स्वर ने ही रामकृष्ण परमहंस को पहली बार समाधि की परमानन्द अवस्था में पहुँचाया था। इसी लिए रामकृष्ण अपने शिष्य को मात्र स्नेह ही नहीं करते थे। उनके उस स्नेह में कहीं पूजा भी छिपी रहती थी।

महात्मा के मुंह से अपने स्वर के सम्बन्ध में वैसी बात सुनकर मुझे लगा था जैसे मेरे शरीर का आकार मिट गया है। मैं आकारहीन आत्मा एक क्षण में आकाश तक उड़ कर उनके समीप लौट आई हूँ।

उसके बाद मुझे लगा कि कहीं अपना चेत ही न खो बैठूं। मैं उनसे बिना कुछ कहे चुपचाप उठकर चली आई थी।

मैं तो उठकर चली आई पर महात्मा मूर्ति की भांति जहाँ के तहाँ बैठ रहे थे। मैं लेटी-लेटी उनकी ओर देखती रही फिर पता ही न चला

कि मुझे कब नींद आ गई पर रात में ही जब आँख खुली तो कानों ने सुना कहीं दूर घंटा चार बार बजकर शान्त हो गया है और आँखों ने देखा कि वे महात्मा जहाँ के तहाँ सर्दी की रात में प्रस्तर-प्रतिमा की भाँति घास पर बैठे हैं।

यह देखकर मन में न जाने कैसी ममता उमड़ी कि पागलों की तरह उठी और उनके समीप जा खड़ी हुई।

बड़ी देर तक मैं चुपचाप खड़ी रही। उस अँधेरे में देख ही न पा रही थी कि उनके पलक बन्द हैं या खुले हैं।

तभी वे भारी स्वर में बोले—'कल्याणी ! क्यों ?"

"आप सोते क्यों नहीं ?'

"सारे जीवन सोता ही रहा हूँ। चाहता हूँ अब जाग जाऊँ।"

"मैं समझी नहीं।"

"वह मैं फिर कभी समझाऊँगा पर एक बात पूछन' चाहता हूँ। बताओगी ?

मेरी बात सुनकर तुम्हें मुझ से भय तो नहीं हो रहा है ?"

"भय ? भय क्यों ?'

मुझे लग रहा है जैसे मैंने अपनी बात तुम से ठीक-ठीक नहीं कह पाया थी। कहीं तुम अन्यथा तो नहीं समझ बैठी। इसी लिए.... ....
मैं बीच ही में बोल उठी—" मेरे क्लेश की बात सोच-सोचकर ही यहाँ रात भर बैठे रहे हैं ?"

कहकर चुप रही फिर बोली—

"यही न होता तो संसार छोड़ कर यहाँ क्यों आ बैठते ?"

* * * *

इसी तरह न जाने कितनी कैसी बातें हम लोग आपस में करते रहे। पर कैसे भी मैं यह न समझ पाई कि महात्मा मुझे क्या समझते हैं ? शुरू-शुरू में जब भी समय मिलता उन्हें एक टक देखती रहती थी पर अब उनकी ओर देखती तो मुझे लगता जैसे कोई पाप कर रही हूँ।

मैं सोमवार को उनके यहाँ आई थी और उस बात को पन्द्रह दिन बीत गये थे। इस बीच मैंने कभी नहीं पाया कि महात्मा ने एक बार भी मेरी ओर दृष्टि उठा कर देखा हो। पर मुझे अन्दर ही अन्दर लग रहा था जैसे वे मुझ से कुछ चाह रहे हैं।

इसी बीच एक चिन्ता मुझे और हो गई कि मिन्नी घण्टों आश्रम से गायब हो जाती थी और फिर जब आती तो उसका मुँह गुलाबी होता था। उसके चेहरे को देखकर लगता जैसे किसी संवेदनशील अनुभूति को अपने में संजोए लौटी है।

पहले तो जब वह चली जाती तो मुझे एक राहत सी मिलती और दौड़ी-दौड़ी महात्मा के पास चली जाती फिर तरह-तरह के प्रश्न करती—वे समाधान करते लेकिन थोड़े ही दिनों बाद मेरे मन में चिंता जागी कि वह सीधी-सादी इतनी है कि अपना हित-अहित भी नहीं जानती। कहीं गलत रास्ते पर न जा रही हो।

एक दिन जैसे ही वह बाहर निकली, मैं उसके पीछे-पीछे जाने लगी। उसने पीछे मुड़कर एक बार भी नहीं देखा।

वह दौड़ी चली जा रही थी।

थोड़ी दूर जाकर वह आनासागर के किनारे बैठ गई और बैठी-बैठी मिट्टी के बड़े-बड़े खिलौने बनाने लगी।

मैं समझ नहीं पाई कि वह वहाँ बैठी-बैठी ये मिट्टी के खिलौने क्यों बना रही है? मन में तो बहुत आया कि जाकर उससे पूछूँ कि बच्चों की तरह मिट्टी के खिलौने बनाने में उसे क्या मिल रहा है पर वहाँ गई नहीं। चुपचाप लौट आई।

जब मैं आश्रम में लौटी तो देखा—महात्माजी धीरे-धीरे उस फुलवारी में घूम रहे हैं पर उनके चेहरे पर वैसा धीरज नहीं है। मारे चिंता के उनका मुँह काला पड़ गया है।

मेरे पहुँचते ही वे मेरी ओर आये और आहत स्वर में बोले—

"कल्याणी ! कहाँ गई थी ?"

सुनकर मैं दबे स्वर में बोली—"कहीं नहीं, मिन्नी के खिलौने देखने गई थी।"

सुनकर वह सहज हो आए। मुस्कराते बोले—"खिलौने ? कैसे खिलौने ?"

"सो तो नहीं जानती कि वे खिलौने कैसे हैं। दूर ही से देखे थे। आनासागर के किनारे बैठी-बैठी मिट्टी के खिलौने बना रही थी।"

सुनकर महात्मा गम्भीर हो गये। कुछ देर मेरी ओर देखते रहे। आज उन्होंने पहली बार मुझे इस तरह देखा था। मेरी ओर देखते-देखते बोले—

"कल्याणी ! हम ही क्या हमारा विधाता भी दिन-रात ये मिट्टी के खिलौने ही तो बना रहा है। अन्तर केवल इतना है कि वह जिंदा मिट्टी के खिलौने बनाता है और मिन्नी मुर्दा मिट्टी के—पर बनाने का आनन्द शायद एक-सा ही होता होगा। दुखी तो वे लोग हैं जो कैसे भी इन खिलौनों में अपने मन को भरमा नहीं पाते। कल्याणी ! मिन्नी इतनी बड़ी हो गई पर लगता है जैसे इतनी उम्र में भी वह अपने बचपन को नहीं मिटा पाई। जैसे आज भी वह उसी में जी रही है।"

तभी हम दोनों ने देखा कि मिन्नी एक बड़ा खिलौना इस तरह लिए आ रही है जैसे उसकी गोद में उसका अपना ही बच्चा हो।

उस मिट्टी के खिलौने को इस तरह गोद में लाते देख महात्मा तो धीरे-धीरे मुस्कराने लगे पर मैं मारे क्लेश के वहाँ कैसे भी न ठहर पाई। जल्दी-जल्दी पग उठाती वहाँ से चलकर अपने कमरे में आ गई।

वह दौड़ी-दौड़ी मेरे कमरे में आई और उस मिट्टी के शिशु को मेरे कमरे में रखकर बोली—"देखो, कैसा है ?"

"बहुत अच्छा" कह कर मैं उस खिलौने को देखने लगी। उसे देखकर लगा कि उस मिट्टी के शिशु में मिन्नी ने अपने मन की सारी ममता उड़ेल दी है।

मेरी दृष्टि मिन्नी की ओर गई। वह जिस तरह अपनी उस कृति मिट्टी के शिशु को देख रही थी सो देखकर मेरी आँखें छलछला आईं।

बचपन से न जाने कितने चित्र देखती आ रही हूँ जिसमें माँ यशोदा अपने नन्हे कन्हैया को देख रही हैं पर जैसी वत्सलता मैंने मिन्नी की पुतलियों में, उसके कांपते होठों पर थरथराती ठोड़ी पर देखी सो कहीं नहीं देखी थी।

उसके बाद दिन भर मेरी आँखों के सामने मिन्नी के अन्दर बैठी उसी माँ की छबि ही दिखती रही।

महात्मा ने कई बार पूछा—"कल्याणी ! लगता है आज तुम्हारा मन ठीक नहीं है।"

मैं उनसे क्या कहती ? जब भी उन्होंने पूछा, मैं चुप रही पर उसी रात जो मैंने देखा सो देखकर रात भर उस अभागी के लिए रोती रही। एक पल को भी मेरी आँखों के आँसू न थमे।

उस दिन मैंने ही सारे आश्रम की सफाई की थी। दोनों बार खाना बनाया था। महात्मा के पुस्तकालय की एक-एक किताब झाड़ पोंछ कर अलमारी में सजाई थी। यही सब करते-धरते बहुत थक गई थी।

जैसे ही बिस्तर पर लेटी तो लेटते ही नींद आ गई पर सोते-सोते मुझे लगा जैसे कहीं कोई सुबक रहा है। सिसक रहा है। मैं जाग गई और धीरे से पलकें खोलीं।

मिन्नी समझ रही थी कि मैं सो रही हूँ इसीलिए जिस दुनियाँ में वह थी उसी में निश्चिन्त हो जैसी की तैसी बनी रही।

मैंने देखा कमरे की खुली खिड़की के सामने पूर्णिमा का चाँद आकर स्थिर हो गया है और पूनम की वह धौली-धौली उजियाली सीधी मिन्नी के मुँह पर पड़ रही है।

पहले तो मैं समझ ही नहीं पाई कि मेरी आँखें जो देख रही हैं वह सपना है या सत्य !

मैं उस उजियाली में किसी अभागी माँ का वही चित्र देख रही थी जिसका जीवन के न जाने कैसे क्षणों में किसी कवि ने शब्द-चित्र बनाया होगा—

"आँचल में है दूध और आँखों में पानी !"

मिन्नी धीरे-धीरे सुबक रही थी, उसकी आँखों से झर-झर आँसू बरस रहे थे। अपने उस मिट्टी के शिशु के गले में बाहें डाले गर्दन तक शरीर को उघाड़े उसे अपने आँचल का दूध पिलाने की कोशिश कर रही थी। पर लग रहा था कि जैसे अतृप्त मन के इस खेल को उसने अपने समूचे मन से सच मान लिया था। वह कैसे भी शिशु के ओंठ खोल कर अमृत के उस स्रोत को उसे पिला देना चाहती थी पर वह अभागा अपना नन्हा बन्द मुँह खोल ही न पा रहा था।

उस-शिशु के लिए मन में उमड़ती ममता का एक-एक बूंद वह उसे पिला देना चाहती थी पर उन कोमल नन्हें ओठों के अह्लाद भरे दबाव का वह कैसे भी अनुभव नहीं कर पा रही थी। वह उस जादू भरी मीठी सिहरन की अनुभूति कैसे ही ले पाने के लिए तड़प रही थी पर कैसे भी उसकी सम्प्राप्ति नहीं हो पा रही थी।

तब उसी अप्राप्ति के क्लेश को मन में दबाये बार-बार सुबकती कहने लगी—"मेरे लाल क्यों रूठ गए हो मुझ से ? क्या मैं ही तुम्हारी माँ नहीं हूँ। मेरे नन्हें कन्हैया तुम्हें चाहे किसी ने जन्म दिया है। पर मेरे लाल ! मैं ही हूँ तुम्हारी जसुमति मय्या ! सुनो-सुनो चारों ओर सिपाहियों की भाग-दौड़ कैसी मच रही है ? मुझे छोड़ कहीं चले न जाना मेरे गोपाल !

सुजाता अपनी दीदी की
लिखी उस कापी को पढ़ने में
ऐसी डूबी कि बाहर से मिन्नी ने
कई बार द्वार का कुण्डा खटखटाया
पर उसने सुना ही नहीं। सुनती कैसे?
उसके कान के देवता वहाँ थे जहाँ इस मिन्नी
से दूर कोई माँ-मिन्नी अपने शिशु को लिए
लेटी थी। जिस मिन्नी ने शराब के नशे में सारी रात किसी सरकारी
आफिसर के साथ बिताई थी,
उस मिन्नी की आवाज को वह सुन
ही न पाई। तब मिन्नी ने जोर से
किवाड़ खटखटाए। उस खटखटाहट को
सुन कर सुजाता को लगा जैसे स्वप्न लोक
से लौट कर धरती पर आ पड़ी है, जहाँ उसे
किसी नरक की गंदी नाली में फेंक दिया गया है।
जहाँ मारे भय-आशंका के उसके प्राण धक्-धक् कर रहे हैं।

१०

उसने उठ कर किवाड़ खोल दिये। मिन्नी होटल के लड़के के साथ

आई थी। एक ट्रे में दो थालियाँ रक्खी थीं। थालियाँ और पानी रख कर वह लड़का चला गया। मिन्नी ने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिये।

तब सुजाता ने उस मिन्नी को देखा जिसने पूनम की चाँदनी में उसी की दीदी के निकट किसी मिट्टी के खिलौने को अपने आँचल का दूध पिलाया था।

वह उसके चेहरे को बड़ी गहराई से देखने लगी। सोचने लगी—क्या आज भी उसके मन में उस भय की छाया होगी जब किसी का बच्चा अस्पताल से उठा लाई थी। जब उसे अपनी छाती से चिपटाये अपनी ममता का एक-एक बूंद पिलाने के लिए बेचैन थी और तभी इस जशोदा को कंस के सिपाहियों ने घेर लिया था। जब इसके हाथों से उस नवजात शिशु को छीन लिया होगा, तब इस अभागी को कैसा लगा होगा। क्या कानून ने एक क्षण के लिए भी इस माँ के मन में उठते हाहाकार की, उस वत्सलता की छाया तक देखी होगी ?

जेल न भेज कर अगर गाँधीबाबा के चेलों की यह सरकार इस अभागी को शिशुओं की किसी संस्था में भेज देती। इसे ट्रेनिंग देकर किसी शिशु-मंदिर में भेज देती तो देश के कितने बच्चों को अपने स्नेह में नहलाती, उन्हें अपनी ममता का संस्कार देती।

तभी मिन्नी बोली—'सुजाता ! ऐसे मुझे क्यों देखे जा रही हो ? खाना खाओ।"

सुजाता धीमे स्वर में बोली—"नहीं, मैं कुछ नहीं खा पाऊँगी। मुझे बिल्कुल भूख नहीं है।"

"सुजाता, मैं तुम पर जोर नहीं देती पर मेरी बात मान लो। कुछ खा लोगी तो कमजोरी नहीं आयेगी। पता नहीं आज की रात तुम्हें कैसे बितानी पड़े।"

मिन्नी की उस बात को सुन कर सुजाता का सारा बदन थर-थरा गया। उसने गिलास में पानी लिया। हाथ धोये और धीरे-धीरे रोटी के नन्हें-नन्हें ग्रास तोड़ कर मुंह में रखने लगी। सुजाता के जबड़े मंत्रवत

सुजाता अपनी दीदी की
लिखी उस कापी को पढ़ने में
ऐसी डूबी कि बाहर से मिन्नी ने
कई बार द्वार का कुण्डा खटखटाया
पर उसने सुना ही नहीं। सुनती कैसे ?
उसके कान के देवता वहां थे जहां इस मिन्नी
से दूर कोई मां-मिन्नी अपने शिशु को लिए
लेटी थी। जिस मिन्नी ने शराब के नशे में सारी रात किसी सरकारी
आफिसर के साथ बिताई थी,
उस मिन्नी की आवाज को वह सुन
ही न पाई। तब मिन्नी ने जोर से
किवाड़ खटखटाए। उस खटखटाहट को
सुन कर सुजाता को लगा जैसे स्वप्न लोक
से लौट कर धरती पर आ पड़ी है, जहां उसे
किसी नरक की गंदी नाली में फेंक दिया गया है।
जहां मारे भय-आशंका के उसके प्राण धक्-धक् कर रहे हैं।

१०

उसने उठ कर किवाड़ खोल दिये। मिन्नी होटल के लड़के के साथ

आई थी। एक ट्रे में दो थालियाँ रक्खी थीं। थालियाँ और पानी रख कर वह लड़का चला गया। मिन्नी ने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिये।

तब सुजाता ने उस मिन्नी को देखा जिसने पूनम की चाँदनी में उसी की दीदी के निकट किसी मिट्टी के खिलौने को अपने आँचल का दूध पिलाया था।

वह उसके चेहरे को बड़ी गहराई से देखने लगी। सोचने लगी—क्या आज भी उसके मन में उस भय की छाया होगी जब किसी का बच्चा अस्पताल से उठा लाई थी। जब उसे अपनी छाती से चिपटाये अपनी ममता का एक-एक बूंद पिलाने के लिए बेचैन थी और तभी इस जशोदा को कंस के सिपाहियों ने घेर लिया था। जब इसके हाथों से उस नवजात शिशु को छीन लिया होगा, तब इस अभागी को कैसा लगा होगा। क्या कानून ने एक क्षण के लिए भी इस माँ के मन में उठते हाहाकार की, उस वत्सलता की छाया तक देखी होगी ?

जेल न भेज कर अगर गांधीबाबा के चेलों की यह सरकार इस अभागी को शिशुओं की किसी संस्था में भेज देती। इसे ट्रेनिंग देकर किसी शिशु-मंदिर में भेज देती तो देश के कितने बच्चों को अपने स्नेह में नहलाती, उन्हें अपनी ममता का संस्कार देती।

तभी मिन्नी बोली—'सुजाता ! ऐसे मुझे क्यों देखे जा रही हो ? खाना खाओ।"

सुजाता धीमे स्वर में बोली—"नहीं, मैं कुछ नहीं खा पाऊँगी। मुझे बिल्कुल भूख नहीं है।"

"सुजाता, मैं तुम पर जोर नहीं देती पर मेरी बात मान लो। कुछ खा लोगी तो कमजोरी नहीं आयेगी। पता नहीं आज की रात तुम्हें कैसे बितानी पड़े।"

मिन्नी की उस बात को सुन कर सुजाता का सारा बदन थर-थरा गया। उसने गिलास में पानी लिया। हाथ धोये और धीरे-धीरे रोटी के नन्हें-नन्हें ग्रास तोड़ कर मुंह में रखने लगी। सुजाता के जबड़े मंत्रवत

चलने लगे और चबाया हुआ ग्रास अंतड़ियों में जाने लगा।

भोजन खिलाकर मिन्नो चली गई। सुजाता ने अन्दर से किवाड़ बंद किये और अपनी दीदी की उस कापी को वहीं से पढ़ने लगी, जहाँ से छोड़ा था। उसने पढ़ा—

उस रात की घटना के बाद मेरे मन में मिन्नी के लिए ऐमी ममता उमड़ी कि जिसे आज तक नहीं मिटा पाई हूँ।

उसके बाद मिन्नी जब अचानक आश्रम से गायब हो जाती तो मुझे चिन्ता नहीं होती। बस सोचती रहती वह अपने नए-नए मिट्टी के शिशुओं को अपनी अंगुलियों से बना-बना कर अपने मन को भरमा रही होगी। पर कई महीने बाद एक दिन जिस हालत में वह लौटी सो देख कर मैं सन्नाटे में रह गई। उसके बाल जगह-जगह से खुल गये थे। पर उनसे खुशबू आ रही थी—उसका साँवला मुंह एक दम ताम्वे जैसा चमक रहा था। वह बात-बात पर हँसे जा रही थी। उसका जूड़ा भी नए ढंग से बँधा हुआ था। लगता था जैसे मुँह पर पाउडर लगा कर धो डाला है।

बिना बात अकेले में बातें किये जा रही थी। रात को जब मेरे पास लेटी तो बार-बार मुझे अपनी ओर खींचती। आज उसने अपने उरू मिट्टी के शिशु को उठा कर खिड़की में रख दिया था।

मैं समझ नहीं पा रही थी कि जिस शिशु को वह नहलाती थी, कपड़े पहनाती, शृंगार करती, लोरी सुना कर अपनी बाहों में भर कर सोती थी उसको आज उठा कर खिड़की में क्यों रख दिया है।

मैं बार-बार सोने की कोशिश करती पर वह बार-बार मुझे अपने निकट खींच कर काँप उठती थी। बार-बार उसकी दाँती बज उठती थी।

तब तंग आकर मैं पूछ बैठी—"मिन्नी ! आज तुझे क्या हो रहा है ?"

सुन कर पहले तो वह चुप रही फिर बोली—"हाय ! इतने दिनों से छिपाते-छिपाते मेरी आफत आ गई थी। सच मेरी तो जान निकली जा रही थी।"

"क्या छिपा रही थी तू ?"

"बताऊं ?"

"हां, हां जल्दी बता।"

"दो-चार रोज में आश्रम छोड़ कर मैं चली जाऊँगी।"

"कहां ? अपनी ससुराल ?"

'ससुराल वालों ने तो जब जेल गई थी तभी साफ-साफ कह दिया था। वह सब मैंने तुम्हें बता ही दिया था।"

'फिर तुम जा कहां रही हो अपने मां-बाप के यहां ?"

"नहीं मां-बाप की मुझे नाक नहीं कटानी है।"

'बताओ न ! जा कहां रही हो ?"

"जीजी !"

मिन्नी ने पहली बार मुझे 'जीजी' कहा था और जीजी कहते-कहते वह अपनी सारी शक्ति लगा कर मुझसे लिपट गई थी।

कुछ देर तक तो लम्बी-लम्बी सांसें भरती रही फिर मेरा हाथ लेकर अपनी एक अँगुली मेरी हथेली में रख कर बोली—"समझी जीजी !"

मैंने अपनी अंगुलियों से टटोल कर जाना कि उसकी एक अँगुली में अंगूठी है।

यह परिज्ञान होते ही मेरे मन में धक् से हो गया। सोचा—तो आखिर किसी ने इस अभागी को ठग ही लिया।

मैं मारे आशंका से कांपती बोली—"बता कौन है वह ? किसने दिया है यह ?"

"दीदी एक हैएऽऽ। बहुत अच्छा है। उसके पास अपनी कोठी है। मोटर गाड़ी है। दिल्ली का रहने वाला है। आज-कल यहां एक होटल में रहता है।"

"तुझे कैसे मालूम कि उसके पास कार-कोठी है ?"

"वही कह रहा था।"

"पगली ! उसके कहने से क्या होता है ?"

"नहीं जीजी ! वह झूठ नहीं बोल सकता ।"

"क्यों, उसके झूठ न बोलने का तेरे पास क्या सबूत है ?"

"जीजी ! वह मेरी जरा-सी तकलीफ नहीं सह पाता । एक दिन खिलौने की मिट्टी में फँसे एक काँटे की जरा-सी नोक मेरी हथेली में चुभ गई थी । तो उसके तो प्राण ही निकल गये । उसने मेरी हथेली धोई । मुझसे पिन माँग कर धीरे-धीरे उस काँटे को निकाला । कांटा निकालते-निकालते बार-बार कितने प्यार से पूछ लेता था—'दर्द तो नहीं हो रहा है ?' नहीं जीजी ऐसा आदमी कभी झूठ नहीं बोल सकता ।

जब वह कांटा निकाल रहा था तब मैं बैठी-बैठो अपने उस पति की बात ही सोचती रही जो दिन-रात दहाड़-दहाड़ कर मुझे नोच-खरोंच कर कहा करता था —"तू कान खोल कर सुन ले ! मैंने बुढ़ापे में तुझ से शादी इसलिए की है कि बच्चा हो, वंश चले । मैं तुझ जैसी बाँझ भैंस का क्या करूँगा । चार-छः महीने और देखता हूँ । बच्चा नहीं दिया तो खूंटे से खोल कर चार डंडे पीठ पर लगाऊँगा और हमेशा के लिए भगा दूंगा ।"

जब जेल की सजा सुनाई गई तो मैंने उन्हें अपने पास बुलाया । रोते-रोते कहा—"जेल में मिलने जल्दी-जल्दी आया करना ।"

तो आँखें निकाल कर बोला—"चोर, हराम......, मिलाई की तो बात छोड़ । अगर जेल से छुटने के बाद मेरे घर की ओर मुंह भी किया तो खोद कर गाढ़ दूंगा ।"

कहते-कहते उसका गला भर आया । फिर गद्‌गद् कंठ से बोली—"जीजी ! भगवान ने उन्हें जैसा मन दिया है वैसा ही रूप भी दिया है ।"

मैंने पूछा—"वह तुझे मिला कहाँ ?"

"मिलता कहाँ ? वहीं मिल गया था जहाँ बैठ कर मैं खिलौने बनाया करती थी । पहले दिन आया तो दूर खड़ा-खड़ा मुझे खिलौने बनाते देखता रहा । फिर धीरे-धीरे नजदीक आने लगा । एक दिन मैं

अंजुली में पानी लिए अपनी जगह की ओर दौड़ी आ रही थी। आते-आते साड़ी में पैर उलझ गया। मैं गिर पड़ी तो दौड़ा-दौड़ा आया और बोला "माफ कीजिए ! आपको ज्यादा चोट तो नहीं आई ?'

जीजी ! उसकी आवाज में ऐसा जादू था कि मैं तो उसे देखती की देखती रह गई। तब उसने मेरी आँखों में न जाने ऐसा क्या देखा कि धीरे से मेरा हाथ पकड़ा और उठा कर बैठा दिया।

दूसरे दिन आया तो एक पत्थर पर मेरे पास ही बैठ गया। पूछा—'तुम कहाँ रहती हो ? तुम्हारे घर कौन-कौन है ?"

उसने जो कुछ भी पूछा मैंने सब साफ-साफ बता दिया। मेरे जरा से दुख की बात सुन कर उसकी आँखें छलछला आती थीं। नहीं जीजी वह कभी झूठ नहीं बोलेगा।

एक दिन आकर बोला—"मिन्नी ! मेरे पास मोटर-गाड़ी है। आओ तुम्हें घुमा लाऊँ।"

मैंने मना नहीं किया। वह मुझे पुष्कर ले गया। पुष्कर के पास एक छोटे जंगल में ले गया। मोटर सड़क पर खड़ी कर दी और सड़क से दूर पेड़ों की घनी छाया में मुझे बिठा दिया। कुछ देर खड़ा रहा फिर बोला—"तुम्हारे पास बैठ सकता हूँ ?"

सुन कर मारे लाज के मैंने सिर झुका लिया। हँसता बोला—"चुप का मतलब 'हाँ' और मुझ से सटता-सा बैठ गया। जीजी ! उसके उस छूने में मुझे लगा जैसे पहली बार किसी आदमी को मैंने छुआ है।"

उसके बाद उसने बताया कि उसकी दिल्ली में कोठी है। बड़ा व्यापार है। घर वाले बहुत-सा रुपया लेकर किसी लड़की से शादी कर देना चाहते हैं पर वह अपनी पसन्द की लड़की से शादी करना चाहता है। इसीलिए घर से रूठ कर यहाँ होटल में ठहरा हुआ है। ऐसा रईस है जीजी कि पचास रुपया रोज़ होटल में खर्च कर रहा है। राजा-रईसों के होटल में ठहरा है। हाय जीजी ! उसके कपड़ों से ऐसी खुशबू आती है कि मैं तो उसको सूंघते ही अचेत-सी हो उठती हूँ। नहीं जीजी ! यह तो तुम सपने में

भी न सोचना कि वह मुझे धोखा देगा।"

मैं बोली—"ठीक है ! आगे बताओ क्या हुआ ?"

उस दिन और कुछ नहीं हुआ। वह मुझे अपनी गोदी में लिटाए ऐसी-ऐसी प्यार-प्रीति की बातें किए जा रहा था जैसी सिनेमा के पर्दे पर हीरो अपनी हीरोइन से करता है। तुम्हीं बताओ जीजी ? असली जिन्दगी में किसी को ऐसा हीरो जैसा पति मिलता है ?"

"फिर क्या हुआ ?"

'वह वहाँ से उठा कर मुझे मंदिर में लाया और बोला—'मिन्नी ! इस मंदिर में मैं तुम्हें भगवान से माँग लूँ ?

सुन कर मैंने उसकी ओर देखकर हंस दिया। मंदिर में उस समय कोई न था। मेरे हाथ अपनी हथेलियों में दबा कर कहा—"भगवान ! तुम गवाह रहना ! आज से मिन्नी मेरी है।"

जीजी ! मैंने उसे साफ-साफ बता दिया था कि मेरा विवाह हो चुका है। होस्पीटल के लड़के की चोरी वाली बात भी बता दी थी। सुनकर उसे बिलकुल दुख नहीं हुआ। उल्टा बोला—'मिन्नी सचमुच मुझे तुम जैसी ही बहादुर लड़की चाहिये थी। अब इस दुनियाँ में मुझे किसी का डर नहीं है।"

"यह कब की बात है ?"

"यह ? इसको आज चार दिन हो गए।"

"उसके बाद तू उससे मिली ?"

"हाँ, रोज वहीं आनासागर के किनारे मिला करती थी। कल वह साँझ के समय मुझे आनासागर के पास "सावन-भादों" ले गया था।

"यह सावन भादों क्या है ?"

"लता बेलों का एक कुंज सा है। उसमें सदा टप-टप पानी सा बरसता रहता है। जीजी ! साँझ का समय था। चिड़ियाँ अपने-अपने घोसलों में लौट रही थीं। सारा कुंज उनकी खुशी भरी चुट्ट चुर चूँ से गूंज रहा था। मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर बोला—"मिन्नी !

न जाने कौन सा दिन होगा जब हम दोनों इसी तरह एक घोंसले में पंख से पंख सटा कर, एक दूसरे को दबाकर दुनिया से दूर सारी रात सोएँगे।

उसकी उस बात को सुनकर जीजी ! न जाने कैसी कँप-कँपी सी मुझे छूटने लगी, बहुत रोकना चाहती थी पर बार-बार मेरी दाँती बज उठती थी।

मैंने धीरे से स्वांस रोक कर कहा—"अब यहाँ से चलो। मुझे जाड़ा लग रहा है।"

वह बोला—"मिन्नी ! यह जाड़े का जाड़ा नहीं है। यह वह जाड़ा है जो ऐसे समय ही छूटता है।"

मैंने पूछा—"तुम्हें कैसे मालूम यह बात ?"

जीजी ! मुझे अपनी ओर खींच कर बोला—मुझ पर शक मत करो। किताबों में पढ़ा है। दोस्तों ने बताया है। मैं सब जानता हूँ। मैं सब जानता हूँ"... ...कहते-कहते जीजी उसने मुझे इस तरह खींचा कि मैंने अपने को धीरे-धीरे बिलकुल ढीला छोड़ दिया।"

तभी किसी ने आकर दूर ही से कहा—"कौन हो तुम लोग ?"

हाय जीजी ! मैं तब ऐसी दुनियाँ में थी कि कैसे भी वापस नहीं लौटना चाहती थी। एक तरह से उसी ने झकझोर कर मेरे कान में कहा—"कोई आ गया है। चलो, उठो।"

तब तक वह पास आ गया। वह वहाँ का चौकीदार था। आकर बोला - "मैंने सब देख लिया है। बोलो ले चलूँ कोतवाली ?"

जीजी ! कोतवाली का नाम सुनकर मेरे होठों से हल्की सी चीख निकल पड़ी।

लेकिन जीजी वह ऐसा बहादुर है कि जरा भी नहीं घबराय। आगे बढ़कर उससे बोला—"अब अगर जबान हिलाई तो हलक से खींच लूंगा। ले यह और भाग यहाँ से।"

जीजी ! उसने जेब से निकाल कर कुछ रुपये उसके हाथ में थमा दिये।

रुपये पाते ही वह कुत्ते की तरह दुम हिलाते बोला —"आप मालिक हैं माई-बाप। हम गरीब आदमी हैं। आप ही का दिया खाते हैं। आप निसाखातिर रहें। मैं बाहर पहरे पर हूं। आप फिकर मत करना मालिक !" कहते-कहते वह चला गया।"

बीच ही मैंने पूछा—"फिर क्या हुआ ?"

यह सुन कर मिन्नी लजा गई और अपनी साड़ी के छोर से अपना मुंह ढक कर मेरी ओर पीठ करके पैर पटकती लेट गई।

मैंने अपनी ओर उसका मुंह किया और आशका भरे स्वर में बोली—"फिर आगे बता क्या हुआ ?"

"मैं क्या बताऊँ आप कुछ जानती तो हैं नहीं।"

"तू तो सब कुछ जानती है। तू ही बता।"

"नहीं जीजी ! मुझे शरम आ रही है।"

"अच्छा आज कहां गई थी ?"

"आज ? हाय जीजी ! आज की मत पूछो। आज जब वहाँ आनासागर के किनारे आया तो बड़ी देर तक पिछली शाम की बातें याद दिला कर मुझे लजाता रहा, हँसता रहा फिर बोला—"मिन्नी कल वाली क्या कोई जगह थी। आज तुम्हें मैं अपने होटल ले चलूंगा। बोलो, चलोगी ?"

उसकी बात सुन कर मैंने अपना सिर और नीचे झुका लिया।

तभी हँसता बोला—"चुप का मतलब हाँ" यह कहते-कहते उसने मेरे हाथ पकड़े और खींचता अपनी गाड़ी के पास तक ले गया। मुझे गाड़ी में बिठाया और होटल के अपने कमरे में ले गया। हाय जीजी ! तुमने ऐसा कमरा कहीं नहीं देखा होगा।

कमरे की सारी दीवालों में जड़े बड़े-बड़े शीशों के सामने जब मैं खड़ी हुई तो सच मुझे बड़ी शरम आई।

"क्यों ?"

"जीजी ! वे तो ऐसे गोरे-चिट्टे हैं और मैं काली-कलूटी। न जाने

कैसे वे मेरे मन की सब बात समझ गये। बोले—"क्यों ? ऐसे उदास क्यों हो गई ?"

मैंने कहा —"तुम्हारे दोस्त, तुम्हारी बहनें, जान पहचान के लोग कहेंगे ऐसी काली-कलूटी को कहाँ से ले आये तो क्या कहोगे ?"

बोले—"कहने की तो बात छोड़ो अगर किसी ने ऐसा कहा तो मारे झापड़ के दिन ही में तारे दिखा दूँगा और रात में अगर किसी ने ऐसा कहा तो उसकी आँखों में सूरज चमका दूँगा।"

सच जीजी, ऐसी - ऐसी बातें करता है कि हँसते-हँसते सांस नहीं आती।

उसके कमरे के पास ही स्नान घर था। जाते ही उसने एक बड़ा-सा डिब्बा मेरे सामने रख दिया।

मैंने देखा उसमें सारे नए झिलमिलाते कपड़े रक्खे हैं।

बोला—"जल्दी जाओ। बहुत काम करना है। देर हो गई तो तुम्हारी जीजी मार डालेंगी। नहा-धोकर कपड़े बदल कर आ जाओ।"

"मैं जल्दी-जल्दी अन्दर गई। नहाई-धोई, कपड़े बदले और बाहर आ गई।"

जीजी ! उसने अपने हाथों से मेरा जूड़ा बाँधा। माथे पर बिन्दी लगाई। हेजलीन, पाउडर, लाली लगाई और तब बोला —"अब देखो शीशे में। मैंने सिर उठा कर शीशे की ओर देखा। सचमुच जीजी ? पहली बार मुझे लगा कि जिसे दुनिया सुन्दरता कहती है सो मुझमें भी कम नहीं है।

तभी वह बोला —"कहिए बेगम ! अब तुम्हारे सामने होटल का बैरा लग रहा हूँ कि नहीं ?"

सुन कर मैंने अपनी अंगुलियों से उसके होंठ बन्द कर दिये।

बोले—"सच बात कहने में काहे का डर है ? मैं सारी जिन्दगी तुम्हारे सामने हाथ बाँधे खड़ा रहूँगा।"

जीजी ! उनकी बातें सुन कर मैं अन्दर ही अन्दर ऐसी भर आई कि दौड़ कर उसके पैरों पर गिर पड़ी।

मेरी आँखें भर आईं। मारे रुलाई के गला रुक गया। जीजी ! वह सुख मुझसे किसी भी तरह सहा नहीं जा रहा था।

सच जीजी ! कैसी ताकत है उसकी बाहों में। उसने झुक कर मुझे इस तरह अपनी बाहों में उठा लिया जैसे कोई बच्चे को उठा लेता है।

उठाकर पलंग पर लिटा दिया और खुद आकर मेरे पास बैठ गया।

जीजी ! मेरे हाथ अपने हाथों में लेकर, मेरे गाल थपथपा कर, उसने आने वाली जिन्दगी के ऐसे-ऐसे सुनहले सपने दिखाये कि मेरा मन करने लगा कि उसके पास से अब एक पल के लिए भी न हटूं।

जीजी ! वह बताए जा रहा था कि दिल्ली जाकर किस तरह अपने हिस्से के लिए कोर्ट में दावा करेगा। एक मिल का मालिक बनेगा। फिर मैनेजर के सुपुर्द मिल का काम-काज करके सबसे पहले स्विटजरलैंड, पेरिस और रोम जायेगा। जीजी ! कह रहा था कि इस धरती पर जितने भी स्वर्ग हैं, सब में मुझे ले जाएगा। फिर बोला—बच्चा होगा। उसे हम पढ़ाने के लिए योरुप भेजेंगे। उसको संभालने-खिलाने के लिए गोरी मेमें रक्खेंगे। जीजी ! मैंने कहा—तुम अपने मन की सब बातें करना पर एक बात मेरी माननी पड़ेगी।

हँसता बोला—'कौन-सी बात ?'

मैंने कहा—"यही कि बच्चे को मैं हर मिनिट अपने पास रक्खूंगी। एक मिनट के लिए भी किसी को नहीं दूंगी और बच्चा पैदा करने अस्पताल भी नहीं जाऊँगी। जीजी तुम्हें नहीं मालूम सरकारी अस्पताल में नर्सें रुपये लेकर बच्चे बदल लेती हैं। चुरा लेती हैं। मरे को जिन्दा, जिन्दा को मरा हुआ साबित कर देती हैं।

वे मेरी बातें सुनते रहे। हँसते-हँसते बोले—"रानी ! तुम जो कहोगी

वही होगा। कस्म खुदा की मैं तो तुम्हारा हमेशा गुलाम बन कर रहूँगा।"

हाय जीजी ! ऐसी-ऐसी बातें करता है कि जी करता है हजार बार जन्म लूँ तो बस पति वही मिले। बस वही।

"जीजी ! उसकी बातों में मैं ऐसी उलझी कि आँखें बंद किये पलंग पर चुपचाप लेटी रही। वहाँ लेटे-लेटे जब सुनती कि वह धरती के स्वर्गों में ले जाएगा तो मुझे लगता है जैसे उसका हाथ पकड़े उन स्वर्गों में ही उछलती-कूदती चली जा रही हूँ। जब बच्चे की बात करता तो मुझे लगता जैसे मेरा बच्चा मेरी बाहों में लिपटा मेरे पास ही लेटा है।

ऐसे ही क्षणों में वह मेरे पास बैठ गया। पहले जेब से निकाल अँगूठा मेरी अँगुली में पहनाई और बोला—"मिन्नी लो मेरी सगाई की यह अँगूठी।" "अँगूठी पहना कर वह मेरे पास ही लेट गया और फिर ..." कहते-कहते मिन्नी ने साड़ी से अपना मुँह ढक लिया।

कुछ देर वैसी ही पड़ी रही फिर बोली—"जीजी ! अब इन मिट्टी के खिलौनों का क्या होगा ? कहते थे अब ऐसी बातें ज्यादा नहीं करेंगे। अगर शादी से पहले ही गड़बड़ हो गई तो जान-पहचान वाले हँसी उड़ाएँगे।

"ठीक बात है जीजी ! अब हम ऐसा-वैसा कुछ नहीं करेंगे। कहता था परसों रात की गाड़ी से दिल्ली चलेंगे।"

मिन्नी की बातें सुनकर मैंने कहा—"हम लोगों से मिलने नहीं आएगा ?"

बोली—आएगा क्यों नहीं ? पर डर रहा था। कह रहा था, कहीं बाबाजी और तुम्हारी जीजी नाराज तो नहीं होंगी। मैंने कहा—हमारे महात्माजी तो देवता हैं और जीजी है स्वर्ग की देवी। ऐसे नहीं हैं जो हमारी मर्जी के खिलाफ चलें।

जीजी ! वह कल सुबह ही आएगा।

उसकी बातें सुनकर मुझे पूर्ण विश्वास हो गया कि मेरी मिन्नी के

भाग जाग गए हैं। बस इसी उमंग में मैंने उसकी अँगुली में पहनी अँगूठी को अपने होठों पर रख लिया। पागलों की तरह बड़ी देर तक उसकी हथेलियां, कंधों को झकझोरती रही।

वह कहे जा रही थी—"जोजी ! यह क्या कर रही हो ?'

मैं कह रही थी—"बस तू चुप रह ! दिखने में तो ऐसी सीधी-साधी दिखती थी और खोज लाई परीलोक का राजकुमार।"

एक दिन मिन्नी का राज-
कुमार आया और अपने साथ
दिल्ली ले गया । उस बात को दो
महीने बीत गए पर उसके बाद
उसकी कोई चिट्ठी-पत्री नहीं आई । जो
पता वह लड़का दे गया था उस पते पर
कई चिट्ठियाँ डालीं पर कोई जवाब नहीं मिला ।
कभी-कभी मिन्नी को लेकर तरह-तरह की चिन्ताएँ-आशंकाएँ मन में उठतीं, बेचैन रहती और फिर सोचती भगवान सब का भला करेंगे । चिन्ता करने से क्या होगा ? लेकिन ऐसी चिन्ता-आशंकाएँ बहुत कम उठती थीं । उन दिनों सन्यासी महाराज को लेकर मैं ऐसी दुनिया में बस रही थी या उड़ रही थी कि वहाँ चिन्ताएँ-आशंकाएँ मुझ तक पहुँच ही नहीं पाती थीं । कब सुबह हुई, कब शाम और कैसे रात बीत गई, समझ ही नहीं पाती थी । उन दिनों लग रहा था जैसे

११

कभी साँझ नहीं होती, कभी रात नहीं होती बस हर मिनिट, हर क्षण एक विशेष तरह के आनन्द को लेकर मेरे चारों ओर प्रकाशवान है।

बचपन से भगवान और आत्मा, जीवन-मरण, पुनर्जन्म को लेकर कितने प्रश्न मन में उठा करते थे पर कोई नहीं था जिससे अपने मन की बातें पूछ पाती।

एक दिन जब स्वामीजी से मैंने पुनर्जन्म को लेकर कुछ पूछा तो ऐसा समझाने बैठे कि महीनों तक यही समझाना चलता रहा और इसी सिलसिले में वे जाने कितनी बातें बताए जा रहे थे। ऐसे समय अपलक मैं उन्हीं के दैदीप्यमान चेहरे को देखती रहती थी।

एक दिन साँझ के समय स्वामीजी मेरे कमरे के सामने आ खड़े हुए बोले—"क्या कर रही है कल्याणी ?"

"कुछ नहीं साँझ की आरती की तैयारी कर रही थी।"

"आओ भगवान की आरती करके कुछ दूर घूम आएँ।"

उस दिन भगवान की आरती करके वे मुझे आश्रम से बाहर घुमाने ले गए।

घूमते घूमते हम लोग आनासागर जा पहुँचे।

कितनी देर से हम लोग घूम रहे थे पर इस बीच वे एक शब्द तक नहीं बोले। आनासागर के किनारे मुझे बैठने का संकेत किया और पास हीं एक पत्थर पर वे बैठ गए।

उस दिन पूर्णिमा थी। हवा में न जाने कैसी उन्माद-भरी गंध बह रही थी। जाड़ा तो नहीं था पर कभी-कभी कंपकंपी-सी लगने लगती थी। मैंने अपने हाथ की चादर अच्छी तरह ओढ़ ली और तब जानबूझ कर मैंने महात्माजी की ओर देखा।

वे एकाग्र-चित्त से पहाड़ी की चोटी पर आकाश में उभरते पूर्णिमा के चाँद को देख रहे थे।

मेरे मन में उन महात्मा के लिए कभी भय नहीं रहा पर आज न जाने क्यों कुछ भी कहते डर लग रहा था। फिर भी उस तरह चुपचाप

बैठे मेरी साँस घुटी जा रही थी। मैंने धीरे से कहा—"महात्माजी ! आज आप इस तरह चुप क्यों हैं ?"

कुछ देर तक उन्होंने मेरी बात का जवाब नहीं दिया। मैं वही बात दुबारा पूछने में हिचक रही थी। तभी वे बोले—"क्या आज ही चुप हूँ ?"

"नहीं ! कई दिनों से इसी तरह रह रहे हैं। लेकिन आज तो बिलकुल चुप है।"

"हाँ कल्याणी ! कई दिनों से मन बहुत ही उद्विग्न है और आज तो लग रहा है जैसे मैंने सारा जीवन ही व्यर्थ बिता डाला है।"

"ऐसा क्यों सोच रहे हैं आप ?"

सुन कर कुछ देर वे चुप बैठे रहे फिर अपने आप ही धीरे-धीरे बोले—"कई दिनों से अपने बाबा की एक ही बात सोचे जा रहा हूँ। वे अक्सर कहा करते थे—इस धरती पर विकास की ओर जाने वाली पगडंडी पर मनुष्य ही जीव की अन्तिम अवस्था है। मनुष्य के इस शरीर को पाकर आत्मा मुक्ति के द्वार पर जा पहुँचती है पर कैसा मूर्ख है यह मनुष्य नाम का प्राणी कि न जाने कैसे-कैसे लोभ और मोह को लेकर मनुष्य उसी द्वार की ओर पीठ करके विपरीत दिशा में पग उठा कर चल पड़ता है।

कल्याणी ! उनकी इसी बात ने मेरे जीवन को बदल डाला। मैं गृहस्थी न बन कर सन्यासी बना। कहाँ-कहाँ कैसे-कैसे साधु-महात्माओं के साथ रहा। उनसे तरह-तरह की बातें सीखीं। अन्त में अपने गुरुजी के निकट आ गया पर आज लग रहा है जैसे वह जानना सब व्यर्थ हो गया।"

सुन कर मैं काँप गई। मन ही मन सोचने लगी शायद यह सब कुछ मुझी को लेकर कह रहे हैं। मेरे कानों ने सुना वे कह रहे थे—"कल्याणी ! जब तक तुम मेरे पास नहीं आई थीं मुझे लग रहा था जैसे मेरी समस्त इन्द्रियाँ व्यर्थ थीं, भावना-शून्य ! यहाँ तक कि रंग-गंध, सर्दी-

गर्मी सब मेरे लिए अयथार्थ था। बस साँझ के समय सूर्यास्त देखना मुझे बहुत अच्छा लगता था। उसे देखते-देखते मुझे लगता था जैसे मैं स्वयं उस विराट की गोद में, उसकी असीम शून्यता में समाया जा रहा हूँ पर अब लगता है जैसे सब कुछ बदल गया है। सब कुछ...... सब।"

वे कहे जा रहे थे पर मैं कुछ भी समझ न पा रही थी। बीच ही में बोल उठी—"पर स्वामीजी! मैं तो कुछ भी नहीं समझ पा रही हूँ – क्या बदल गया है? कैसे बदल गया? क्यों बदल गया?"

सुन कर वे मेरे चेहरे की ओर बड़ी देर तक देखते रहे फिर उस ओर से दृष्टि हटा कर आनासागर की ओर देखते-देखते बोले—"कल्याणी! इस आनासागर के किनारे आकर मैं कितनी बार बैठा हूँ। न जाने कितनी रातें यहीं बैठे-बैठे मैंने बिता दी हैं पर तब मन ही मन में एक प्रकार की जड़ता-सी थी। हर बात के पीछे एक प्रकार का निषेध ही मैं देख पाता था। कुछ भी खुली आँखों से न तो देख पाता था, न खुले मन से ग्रहण कर पाता था पर आज-कल लग रहा है जैसे रंग-गंध-रस सब को सहज रूप में अनुभव कर रहा हूँ—उस अनुभव में एक ऐसा आनन्द अनुभव कर रहा हूँ जिसकी अनुभूति उससे पहले कभी नहीं हुई।

कभी लगता है जैसे यही सब माया का कौतुक है जैसे मेरा विवेक कुंठित हो गया है, मैं माया की नगरी में अपने आप चल कर आ बैठा हूँ। कभी लगता है जैसे जिस को मैं विवेक समझ बैठा था वह मात्र निषेध था—जीवन से टूट कर चलना और कुछ नहीं.......कल्याणी! सोचता हूँ पर कहीं भी अन्त नहीं.......समझ नहीं पाता कब तक....... कब तक.... ...."

बीच ही में मैं बोली—"लगता है मैं आपकी साधना में बाधा बन गई हूँ।" कहते-कहते मेरा गला भर आया।

वे उद्विग्न से होकर बोले—"नहीं कल्याणी! यह सोच कर कभी अपने को छोटा मत मान बैठिये। मैं दूसरी बात कह रहा हूँ। पर कैसे भी कह नहीं पाता। कई बार वही कहने की मैंने कोशिश की पर कह

नहीं पाया। देखो मैं कह रहा हूँ कल्याणी! कि जीवन में जब पहली बार मैंने तुम्हारा स्वर सुना था तभी मुझे लगा था जैसे अब तक मैं व्यर्थ ही भटक रहा था।

उसके बाद जब तुम मेरे अति निकट आ गई तब मुझे लगा जैसे यह सब किसी उद्देश्य को लेकर ही घट रहा है और अब कई दिनों से मुझे लग रहा है जैसे नारी को लेकर जो निषेध मेरे मन में—मेरे चारों ओर अंधकार बन कर छा गया था सो सब मिट गया है! आज मैं समझ पा रहा हूँ कि क्यों मेरे गुरु इस धरती को छोड़ कर जाते समय अपनी पत्नी का नाम ही स्मरण करते रहे थे। एक दिन जिसे त्याग कर वे भाग आये थे उसी को अन्तिम समय उन्होंने क्यों याद किया?

आज जब तुम्हारे साथ यहाँ आकर बैठा तब तक मेरे मन में एक प्रकार की दुविधा-सी थी—एक उलझन, एक कुंठा-सी रह-रह कर मुझे अन्दर ही अन्दर उलझाए जा रही थी पर इन क्षणों में लग रहा है जैसे सब कुछ मिट गया है।

आज मैं पहली बार समझ रहा हूँ कि नारी के प्रति मन में रहने वाला निषेध ही हमारी सबसे बड़ी कमजोरी है—और जिस दिन हमारे मन में—हमारे अन्दर की कमजोरी मिट जाती है उसी दिन नारी निषेध की नहीं पूजा की वस्तु बन जाती है।"

मैं नहीं जानती, नहीं जान पाई कि उस दिन उन महात्मा को क्या हो गया था—सदा शान्त रहने वाले वे महात्मा बोले चले जा रहे थे—कितनी बार उन्होंने पूर्णिमा की उस धवल चाँदनी में मेरी ओर देखा और फिर बड़ी देर तक देखते के देखते ही रह गये, कितनी बार उन्होंने आनासागर में लहराती-काँपती लहरों को देखा, पहाड़ी के शीश पर मुस्कराते चाँद को देखा। कई बार तो वे बोलते-बोलते काँप गये—उनका कंठ रुँध आया। वे बोले जा रहे थे और मुझे लग रहा था कि जिस नारी ने बड़े-बड़े महात्माओं को तपो भ्रष्ट किया है—जिसने उन्हें अपने आसन से उठा कर गहरे गर्त्त में फैंक दिया है। वही नारी मुझमें

जाग उठी है और मैंने वहीं बैठे-बैठे निश्चय किया—

विधाता ! आज की रात मुझे बचा लो। कल सुबह ही जिधर भी मुंह उठेगा उधर ही चली जाऊँगी। नहीं, मैं इनके तपसी जीवन से सदा-सदा के लिए कहीं दूर चली जाऊंगी।

तब उन महात्मा के निकट एक-एक पल काटना कठिन हो गया। उनकी बातें सुन-सुन कर—उनकी आंखों में, उनके चारों ओर एक ऐसी जादू-नगरी की सृष्टि हो गई थीं कि मुझे लग रहा था जैसे जहाँ का तहाँ बैठे रहना भी कठिन हो गया है सच, कई बार तो मन में आया कि जो तूफान आज उन महात्मा के लिए मेरे मन में उठ खड़ा हुआ है सो उसको लेकर मैं तत्काल उस आनासागर में कूद कर अपना प्राणान्त कर लूं पर न तो मैं उस तूफान में सहज गति से उड़ पा रही थी और न मैं उसका प्रतिरोध हो कर पा रही थी।

वे बोले—"कल्याणी ! देखो, ध्रुवतारा पहाड़ी की चोटी पर जा पहुँचा है। आधी रात बीत गई। चलो आश्रम चलें।" कहते-कहते वे उठ खड़े हुए और मैं उनके पीछे-पीछे ऐसे चलने लगी जैसे किसी जादूगर के पीछे मंत्र से बँधी हिरनी चली जा रही हो।

मैं अन्दर ही अन्दर सोच रही थी कि कब वह क्षण आयेगा जब मैं अपने कमरे में पहुँचूंगी और अन्दर से साँकल लगा कर अपने बिस्तर पर जा पड़ूंगी। मैं सिर झुकाए चली जा रही थी। लग रहा था जैसे मेरी दृष्टि, मेरा शरीर, मेरी सब इन्द्रियाँ ऐसी जड़ित हो गई हैं कि कुछ भी सूझ ही नहीं रहा है। शरीर चल रहा है—पैर बढ़ रहे हैं पर लगता है जैसे वह मेरा शरीर है ही नहीं। मैं उन सब से अलग हूँ—अस्तित्वहीन मात्र एक कम्पन और कुछ नहीं।

चलते-चलते ऐसी बात घट गई कि एक क्षण ही में मेरी वह जादू की सृष्टि एकाएक नष्ट हो गई। मुझे कुछ ध्यान ही नहीं रहा और चलते-चलते मेरे कंधे उन अजानु, बाहु सन्यासी से छू गए।

छूने के उस क्षण में ऐसा लगा जैसे सारा शरीर एकाएक कांप गया

है। मेरी सारी चेतना लौट आई पर आज समझ नहीं पाती कि कैसी थी वह चेतना कि अपनी ही उस चेतना का वेग मैं कैसे भी न सहार पाई। मैं जहां की तहां बैठ गई।

तभी मेरे कानों ने सुना वे महात्मा कह रहे थे —"क्या हुआ कल्याणी !"

कई बार मैंने चाहा कि उनसे कह दूं—"आप चलिए मैं आ रही हूं।" पर कैसे भी जीभ हिली ही नहीं। एक निरर्थक सी आवाज ओठों से निकल कर रह गई।

थोडी देर बाद मैं स्वस्थ हुई और सिर उठा कर देखा तो वे महात्मा मुझ से थोड़ी दूर खड़े आकाश की ओर देख रहे थे।

मैं उठी और धीमे स्वर से बोली—"चलिए।"

वे आगे-आगे चलने लगे और थोड़ी ही देर में मैंने देखा कि आश्रम का द्वार आ गया है। मैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाती अपने कमरे में जा पहुँची। किवाड़ बन्द करके जब अन्दर से सांकल लगाई तब स्वतः मेरे ओठों से निकल पड़ा—

"बच गई !!"

१२

उस रात के बाद न जाने कैसी कमजोरी-सी मेरे अंदर-ही-अंदर समा गई थी कि कैसे भी मैं स्वामीजी के समीप नहीं जा पाती थी लेकिन सुबह ब्रह्म-मुहूर्त में स्नान करके जब वे अपनी धूनो के समीप आ बैठते तो मैं अपने कमरे में एक छेद से खड़ी-खड़ी चुपचाप उन्हें देखती रहती थी। धूनी के गुलाबी प्रकाश में उनकी बंद आँखें और मुस्कराते ओठों को देखना मुझे इतना अच्छा लगता था कि कभी-कभी तो अपनी इस अनुभूति के लिए मैं सारी रात जागती रहती थी। उन्हें देखते-देखते कभी-कभी तो लगता था कि मेरा सारा शरीर थर-थरा उठता है। उनके उस चेहरे को देखते-देखते एक ही बात मन में बार-बार उठती थी कि एक ही चेहरे में भगवान ने ऐसा विपुल सौन्दर्य कैसे उँड़ेल दिया है।

ऐसे ही क्षणों में एक रात मुझे लगा कि यह इस तरह देखना पाप है—ऐसा पाप कि एक दिन इस पाप की स्मृति मात्र ही मुझे मार कर रख देगी। और तब मैंने उन्हें इस तरह देखना बन्द कर दिया।

मैं चुपचाप अपने कमरे में पड़ी रहती थी पर मेरे कान मेरे मन की आँखें उन महात्मा का उठना—स्नान करना—धूनी के समीप ध्यान लगा कर बैठना सब बिना आँखें खोले ही देखती रहती थीं।

ऐसे ही दिनों में—पागलपन के ऐसे ही क्षणों में एक दिन बसन्त पंचमी आई। मैं जानती थी कि आज ऋतुराज वन-उपवनों, नदी पर्वतों, इस देश में बहती हवा की लहर-लहर में एक उन्माद सा जगाये जा रहे हैं।

मैं जानती थी कि आश्रम के चारों ओर वही पहाड़ियां हैं। आश्रम में खड़े पेड़, लता बेलें भी वही हैं। कहीं कुछ विशेष बात नहीं है पर उस विवेक पर न जाने कैसा पर्दा पड़ गया कि लग रहा था जैसे सब कुछ बदल गया है। स्वामीजी सुबह स्नान-ध्यान करके बिना कुछ कहे सुने चले गये थे।

बड़ी देर तक तो मुझे लगा जैसे आँख ही नहीं खुल रही है। आँखें खोलती थी पर बार-बार अपने आप झपक जातीं थीं फिर झपकी आँखों में ही तरह-तरह के सपने जागते थे। मैं करवटें ले-ले कर उन सपनों को मिटाने की कोशिश करती थी पर वे सपने थे—यौवन के द्वार पर खड़ी मुग्ध युवती के जो कैसे भी टूटते ही न थे।

तब सुबह ही सुबह, सूरज उगने से पहले फैली लालिमा को पतझर से झीने हुये वृक्षों में से झाँक कर देखा। और कानों ने सुना डाल डाल पर चहकते उछलते पक्षियों का समवेत-स्वर। वह सब देख-सुनकर लगा जैसे आज का दिन मैं कैसे भी न काट पाऊँगी। और तभी मन में उठता—स्वामीजी आज सबेरे ही सबेरे चले कहाँ गए? कई दिनों से वे इतने गम्भीर क्यों हो गए हैं?

इसी तरह पड़ी-पड़ी न जाने क्या-क्या सोचे जा रही थी तभी लगा

कि अब कैसे भी लेट नहीं पाऊँगी। सूरज की सीधी किरणें मुंह पर पड़ रहीं थीं।

मैं उठी और स्वामीजी के कमरे में उसे साफ करने के लिए झाड़ू लेकर जा पहुंची। मैंने देखा कि उन्होंने आज सुबह उठ कर अपने आप ही कमरा साफ कर लिया है।

उनके तख्त पर मृग छाला ज्यों की त्यों बिछी थी। माटी का दीया जाते-जाते बुझाना वे भूल गये थे। वह अब भी झिप-झिप करता जल रहा था। मैंने साड़ी के आंचल से उसे बुझा दिया। दिया बुझाते समय आंचल की हवा से एक कागज खड़खड़ा गया। मैंने देखा—महात्माजी उस कागज पर लिखते-लिखते चले गए हैं। कागज के पास ही कलम पड़ा था—

मैंने पढ़ा—उन्होंने लिखा था—

"जो सदा सर्वदा मेरे अन्तर में तड़प-तड़प कर रह जाती है, क्या वही आज सत्य हो कर मेरे समीप आ रही है? अपने जीवन के इतिहास में क्या आज ही का दिन 'मुक्ति-दिवस' के नाम से सदा मैं याद रखूंगा!

आज........ आज का दिन........"

पढ़ कर मेरा रोम-रोम कांप गया। उसको पढ़ कर मुझे निश्चय हो गया कि आज ही है वह दिन जब किसी तपसी विश्वामित्र के समीप मैं—मेनका.... बन गई हूँ।

मैं हांफती सी वहां से आई और अपने बिछौने पर पड़ गई। लग रहा था जैसे मेरा मानस कगारों में बँधा कोई जलाशय है और जिसमें अचानक कोई तूफान उठ खड़ा हुआ है। लहरें उठती हैं—कगारों से टकराती हैं छितरा जातीं हैं।

लहरों के उठने—टकराने और बिखर जाने में जहाँ क्लेश है वहीं एक प्रकार की सुखद सिहरन भी कम नहीं है। विवेक चाहता है कि वह तूफान मिट जाए पर अन्दर की कामना पुकार उठती है—"नहीं! नहीं! ऐसा तूफान जीवन में एक ही बार उठा करता है—उठने दो—

बहने दो—बिखरने दो—

तभी मेरी आँखों ने खिड़की के सामने वाली डाल पर कबूतरों का एक जोड़ा देखा। कबूतर रह-रह कर अपनी चोंच से कबूतरी को जहाँ-तहाँ छूता था और कबूतरी उस छूने की सिहरन को पलकें बन्द किए सह रही थी। तब देखा कि कबूतर ने अगले हिस्से को सीधा करके गर्दन ऊँची की और कबूतरी की चोंच अपनी चोंच में ले ली। कबूतरी इस अनुभूति को अपने पंख फड़फड़ा कर ही सह पा रही थी। बार-बार उसका सारा शरीर थरथरा जाता था।

मैंने अपने छोटे या बड़े जीवन में ऐसा कभी नहीं देखा था। कभी अनुभव नहीं किया था। मुझे लगा जैसे मेरा बिछौना, सामने की खिड़की—वह वृक्ष की डाल—गर्दन उठाये कबूतर—पंख पसारे, गर्दन झुकाए सिहरती कबूतरी सब कुछ एक वृत में घूमा जा रहा है।

मैंने आँखें बन्द कर लीं पर जो कुछ बाहर था सो सब आँखों के अन्दर काले और सफेद दो रंगों में तरह-तरह के आकार धारण कर-कर के आने लगा। वह क.ली-हरी मोटी डाल सफेद बन गई और उस पर बैठा कबूररों का जोड़ा काला बन गया। सफेद आकाश काला और वृक्ष के हरे पत्ते श्वेत नन्हे-नन्हे बेल बूटों की तरह मेरे सामने आ-आ कर हिलने डुलने लगे।

मुझे लगा आज मैं मनकी उस स्थिति में पहुँच गई हूँ जिसे लोग 'पागल' का नाम दिया करते हैं। मैंने अपनी सारी शक्ति लगा कर अपनी आँखें खोल दीं और शरीर के उस तनाव को तोड़ कर उठ बैठी।

स्नानागार में गई। पर जब कपड़े उतार कर सामने ताख में रखे शीशे में अपने अंग प्रत्यंग देखने लगी। तब मैं जान पाई कि आज स्नानागार में यह शीशा क्यों ले आई थी? शीशे में अपने आपको देखना मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। मैं बार-बार अपने दोनों हाथ फैला कर इस तरह कँपाती थी जैसे वे हाथ न होकर मेरे पंख हैं। अपने उन पंखों को फड़फड़ा कर मैं बार-बार अपने अन्दर ही अन्दर एक अजीब तरह

की सिहरन-सी अनुभव कर रही थी।

उस सिहरन के समय मैं शीशे में देखती कि मेरे होंठ काँप उठते हैं, ठोड़ी थरथराती है और कंठ में से एक प्रकार की आवाज उठ-उठ कर गले की सारी नाड़ियों को कंपा जाती है।

मुझे पता ही न चला कि वह उन्माद कितनी देर तक मुझ पर छाया रहा। नहीं जानती उस पागलपन में कितनी देर तक मैं अपने पंख फड़फड़ाए जाती पर तभी मेरे कानों के देवता ने कहा कि—"तेरे मन के देवता आश्रम में लौट आए हैं और वे तेरे ही नाम को बार-बार पुकारे जा रहे हैं।"

मैंने महात्माजी का कंठ-स्वर सुनकर बदन पर पानी डाला और जल्दी-जल्दी कपड़े बदल कर बाहर आ गई।

नहीं जानती क्या समझ कर उस दिन मैंने अपनी प्रिय सफेद साड़ी पहनी थी।

जब स्नानागार से बाहर निकली तो देखा कि महात्मा हाथों में तरह-तरह के फूल पत्ते लिए मेरे ही कमरे के समाने खड़े हैं।

शायद वे समझ रहे थे कि मैं अन्दर कमरे में हूँ।

मुझे उस ओर से आता देख वे मुस्कराते बोले—'ओह ! मैं समझ रहा था कि आप कमरे में हैं।"

"अभी आती हूँ" कह कर कमरे में चली गई।

जब कमरे से बाहर आई तो देखा वे मन्दिर में बैठे हैं। आज उनके चेहरे पर से कुछ दिनों से रहने वाली गम्भीरता की काली छाया मिट गई है। आज वे पहले की तरह सहज होआए थे।

जब मैं मन्दिर के द्वार पर जा खड़ी हुई तो देखा कि मन्दिर के बीच में एक संगमरमर की चौकी पड़ी है। वह चौकी सदा कोने में पड़ी रहती थी।

उस चौकी के समीप ही तरह-तरह के फूल रखे हैं। एक ओर अगर धूप जल रही है।

मुझे मन्दिर के द्वार पर खड़े देख वे मुस्कराते बोले—"आओ कल्याणी ! यहाँ आओ। जानती हो आज कौन-सा दिन है ?"

सुनकर मैं काँप गई। मेरे सामने उनका लिखा वह कागज फिर खड़खड़ा गया। और उनके लिखे वे शब्द आँखों के समीप तैर गये—"जो सदा सर्वदा मेरे अन्तर में ....।"

मन हुआ कि वहाँ से भाग जाऊँ कि मेरे अन्दर बैठी मेनका उस तपसी विश्वामित्र के समीप से दूर चली जाए पर मन के अधिपति न जाने किस देवता ने बाहें पकड़ कर उनके बिलकुल समीप ही धकेल दिया।

मेरे सामने रह-रह कर डाल पर बैठी कबूतरी पंख फड़फड़ाने लगी और कबूतर गर्दन फुलाए चोंच में चोंच लिए थरथराने लगा।

तभी कानों ने उन महात्मा का, मेरे मन के देवता का कंठस्वर सुना। वे कह रहे थे—"कल्याणी ! यहाँ इस चौकी पर बैठ जाओ।"

मैं काँपते पैरों से आगे बढ़ी और उस चौकी पर बैठ गई। मैं समझ नहीं पा रही थी कि वे महात्मा क्या करने जा रहे हैं। क्यों मुझे उस चौकी पर बिठा रहे हैं पर मन कह रहा था—"तू बढ़ी जा उस ओर जिस ओर बढ़ने के लिए कहें—बस और कुछ नहीं।"

महात्मा ने अँजुली बाँधने के लिए कहा। अँजुली बाँधकर मैं सिर झुकाए चुपचाप चौकी पर बैठी थी। उन्होंने मंत्र पढ़ कर पवित्र जल मेरी अँजुली में छिड़क दिया। फिर कुछ फूल और पत्तियाँ अँजुली में रखकर मंत्र पढ़ने लगे।

तभी मैंने उन महात्मा की ओर देखा। वे मेरे समीप मृगछाला पर बैठे थे। उनकी आँखें बन्द थीं। आज इतने समीप से मैंने उन्हें पहली बार देखा था।

उनका ललाट चमक रहा था और पुतलियों पर बड़ी-बड़ी पलकें झपक गईं थीं। उनके होठों पर ऐसी मोहक मुस्कान बिखर गई थी कि मेरे अन्दर बैठी मेनका सहसा काँप गई। उसके पैरों में बँधे घुंघुरु झन-झन कर झनक उठे।

उन महात्मा की पलकें उठीं वे मुस्कराते मेरे माथे की ओर देख रहे थे। उन्होंने मेरे माथे पर, मेरी मांग में फूलों की पत्तियां बिखेर दीं और मुझे लगा जैसे मेनका जीत गई। आज उस तपसी ने उसकी मांग में सिंदूर भर दिया है उसके माथे पर सुहाग का टीका अपने ही हाथ से लगा दिया है। मेरी अँजुली में बंधी अंगुलियां किसी के पैरों को छू लेने के लिए मचल उठीं। आज मैंने वह पा लिया था जिसे इस देश की नारी जीवन में एक ही बार पाती है और उसको पाकर फिर कुछ पाने के लिए शेष नहीं रह जाता।

वे महात्मा बोले—"कल्याणी ! आज मैंने तुम्हें पा लिया ! आज मेरी साधना को सिद्धि मिल गई, तुम में छिपी मां गौरी को पा लिया।"

सुन कर मुझे लगा जैसे अचानक कहीं शिव का तीसरा नेत्र खुल गया है और मेरा रोम-रोम किसी तपस्वी के समीप भस्म हुआ जा रहा है। मुझमें बैठी नारी का सुहाग, मुझ रमणी का शृंगार मुझ कामिनी का मीठा सपना सब एक ही क्षण में टूक-टूक होकर मेरे समीप बिखर गये।"

उन महात्मा को कहते सुना—"कल्याणी ! आज मैंने तुममें वह शक्ति पाई है जो कभी शिवा ने मां दुर्गा में पाई थी। आज मैं अजेय हो गया।"

तभी मुझे लगा कि मेरे अन्दर ही अन्दर कोई कह रहा है—

और तू है वह अभागिनी जिसके माथे पर सुहाग चिन्ह और मांग का सिंदूर मिलन-मंडप में एक क्षण मुस्कराया और दूसरे ही क्षण सिसक कर मर गए।

मैं निर्जीव प्रतिमा की भांति उस चौकी से उठी और अपने कमरे में आकर चुपचाप लेट गई।

कुछ सोच कर उठी और किवाड़ का कुण्डा अन्दर से बन्द कर लिया। तब न जाने क्यों मेरा मन अपनी छोटी बहन सुजाता के पास

उड़ गया। पड़ी-पड़ी सोचती रही—

"भगवान् ! क्या यही है हम स्त्रियों का जीवन-इतिहास ! जो न जाने कैसे-कैसे मीठे सपनों की सुनहली स्याही से कैसे-कैसे अरमानों के रंगीन कागजों पर लिखा जाता है और जिस क्षण पता लगता है कि जिस पर उसने अपने प्राण चढ़ाने चाहे थे वह उसे पहचान ही नहीं पाया तब वे प्राण बुझ जाते हैं—सुनहली स्याही स्याह पड़ जाती है और अरमानों के रंगीन कागज सारे जीवन मन की शून्यता में खड़-खड़ाते रहते हैं। विधाता ! तुम सुजाता को सदा इससे बचाए रखना।

उस दिन मुझे लग रहा था
जैसे अपने जीवन के जलाशय
की आनंद भरी लहरों पर महात्मा
के समीप जिस नौका में बैठी मैं दिन-
रात बही जा रही थी सो अचानक डूब
गई है। वे महात्मा तैर कर उस किनारे
जा पहुँचे हैं और खड़े-खड़े मुस्कारा रहे हैं।
मैं उसी में डूबती-उछरती एक-एक सांस के लिए तड़प रही हूँ। मैं दिन
भर अपने कमरे में पड़ी रही।
कई बार वे महात्मा मेरे द्वार पर
आये—मुझे पुकारा पर मैं बाहर
नहीं निकली। धीरे-धीरे मैं अपने दुर्भाग्य
की बात तो भूल गई और न जाने क्यों मेरे
प्राण उस मिन्नी के चारों ओर मड़राने लगे
जिसे कोई तरह तरह के सपने दिखा कर यहाँ से
अपने साथ ले गया था।

१३

आज जब मेरा सपना टूट गया तब मुझे लगा जैसे कितने ही महीनों

से मैं इस आश्रम में, इस धरती पर थी ही नहीं। अगर होती तो क्या उस मिन्नी को इस तरह भूल जाती। जिसका जाने के बाद एक भी पत्र नहीं आया, क्या उसके लिए मैं कुछ भी नहीं करती?

और उसके बाद मन में एक दूसरी लहर आई? क्या अब तू यहाँ एक दिन भी ठहर पायेगी? ये पहाड़ियाँ, ये लता बेलें, आकाश के वे जगमाते तारे नक्षत्र—डालों पर बैठे पक्षी कबूतर-कबूतरी वह उन्माद की जादूभरी नगरी जो आज अचानक उजड़ गई है, क्या उसके खण्डहर में तू रह सकेगी?

यही प्रश्न चिन्ह रह-रह कर मेरे समीप तरह-तरह से बनते हैं। मैं कैसे ही उन्हें मिटाना चाहती हूँ पर मिटते नही। अन्त में टूटे-थके स्वर में होंठ बुड़बुड़ाये—"मैं मिन्नी के पास दिल्ली जाऊँगी।"

उस रात मुझ पर ऐसा पागलपन छाया कि कभी चाहती दौड़ती जाऊँ और पहाड़ी की चोटी को देख कर मन मचल उठता उस पर चढ़ कर नीचे धड़ाम से जा पड़ूँ। अन्त में पागलपन के उसी वेग में मैं उठी और चलते-चलते जब अजमेर स्टेशन के एक प्लेटफार्म पर दिल्ली जाने वाली गाड़ी में आ बैठी तब ध्यान आया कि उन महात्मा से बिना कुछ कहे-सुने आश्रम से भाग आई हूँ।

यह ध्यान आते ही उन महात्मा की स्नेह भरी पुतलियाँ, धूनी के समीप बैठे महात्मा के ओठों पर बिखरती उनकी मुस्कान बार-बार मेरे समीप साकार हो उठी।

तब मन हुआ कि गाड़ी से उतर कर मैं आश्रम जाऊँ। एक बार उन चरणों पर माथा टेक कर जाने की बात तो कह जाऊँ। अन्त में उस गाड़ी को छोड़ कर आश्रम जाने के लिए मैं तैयार हो गई।

तभी अपने समीप वाली खिड़की पर महात्मा का झुका हुआ सिर देखा। वे वहाँ खड़े-खड़े मीठा-मीठा मुस्करा रहे थे। मुस्कराते हुए ही बोले—"कल्याणी! लो यह दिल्ली का टिकिट और ये पैसे" कह कर उन्होंने एक कपड़े की छोटी-सी थैली मेरे समीप रख दी।

वहाँ उन्हें इस तरह देख कर मैं पानी-पानी हो गई । तभी गाड़ी ने चलने के लिए चीत्कार किया और एक धक्के के साथ गाड़ी ने अपने उस आश्रय-दाता प्लेटफार्म को त्याग देने के सिए पग बढ़ाये ।

मेरा मन हुआ कि उस चलती गाड़ी से कूद पड़ूँ पर न जाने क्या सोच कर मेरे ओंठ थरथरा कर बोल पड़े—"अन्दर आ जाइए—अगली स्टेशन पर उतर जाइये ।"

मेरी आँखों ने देखा कि वे महात्मा द्वार पर लगे लोहे की सलाखाओं को पकड़ कर डिब्बे में आ गये ।

वह छोटा-सा डिब्बा था । मारा डिब्बा खाली था । रात का समय था । इधर उधर-उधर दो-चार मुसाफिर चादर, कम्बल ओढ़े सो रहे थे।

महात्मा जी मेरे समीप ही बैठे थे । कुछ देर हम लोग चुप बैठे रहे । तभी मैंने उनकी ओर देखा । उनके उस चेहरे को देख कर एक बार फिर अचरज में पड़ गई ।

कैसे भी समझ नहीं पाई कि थोड़ी ही देर पहिले उनके जिस चेहरे पर वैसी सहज मुस्कान बिखर रही थी सो इस तरह गम्भीर क्यों हो उठा है । वह एक हथेली में दूसरी हथेली थामें शून्य दृष्टि से डिब्बे के फर्श को देख रहे थे ।

तभी मैं बोली—"महात्मा ! मुझे क्षमा कर देना । मैं पागल हो गई हूँ ।"

सुन कर उनकी गम्भीरता मिट गई । धीरे-धीरे वे फिर सहज हो आये । उसी सहज स्वर में बोले—"मिन्नी के लिए तुम्हारे मन में जो मोह है उसे अच्छी तरह जानता हूँ ।"

मेरे अन्दर ही अन्दर कोई बौखला उठा—"और जो तुम्हारे लिए है सो उसे कभी न जान पाए ?"

कुछ देर उस डिब्बे में सन्नाटा रहा तब मैं ही बोली—"इतने दिन आश्रम में जो बिताए हैं वह कभी नहीं भूलूंगी । पर अब क्या........।"

"क्यों ? अब क्यों नहीं ? कल्याणी ! तुम्हारे लौट आने की मैं सदा

प्रतीक्षा करता रहूँगा।"

"आप मेरी प्रतीक्षा करेंगे ?"

"हाँ ! कल्याणी।"

"सच !"

"हाँ, इसलिए कि तुम्हारे समीप रह कर, मैंने जो पाया है सो अनेक सन्त-महात्माओं और अपने गुरु के पास रह कर भी न पा सका।"

"मैं भी तो जानूं, क्या दिया है मैंने ?"

"तुमने मुझे दी है जीवन के प्रति आस्था ! तुमने मेरे जीवन से निषेध की जड़ता सदा-सदा के लिए मिटा डाली है। आज तो तुम जा रही हो, जब लौटोगी तब बताऊँगा कि अब इस धरती पर कुछ करने के लिए कैसे-कैसे सपने जागते हैं।"

"लेकिन मै क्या करूँ ?"

"क्यों कल्याणी ! तुम्हें क्या क्लेश है, ?"

"क्लेश ! क्लेश तो कुछ नहीं।"

"नहीं, कुछ है। न होता तो इस तरह बिना कुछ कहे-सुने नहीं आती। क्लेश ही नहीं—मन में क्रोध भी है।"

कह कर वे मीठा-मीठा मुस्कराने लगे।

मैंने उनकी ओर देखा पर अन्दर ही अन्दर लगा जैसे मेरी चोरी पकड़ी गई है। और उस अपराध की लाज से झुका सिर मैं कैसे भी ऊपर की ओर न उठा सकी। सिर झुकाए ही बोली—"नहीं क्रोध नहीं है—क्रोध करने लायक मैं बड़ी नहीं हूँ। देखिए जाते-जाते एक बात आप से कहना चाहती थी पर कह नहीं पाई थी।"

"कहिए।"

"आप जितना बड़ा मुझे समझते हैं वैसी मैं नहीं हूँ। मैं बहुत कमजोर हूँ। बहुत.......... बहुत..........।" कहते-कहते मेरा गला रुँध आया।

सुनकर वे चुपचाप मेरी ओर देखते रहे फिर बोले—"नहीं कल्याणी !

ऐसा कभी मत सोचना। जिसे तुम कमजोरी के नाम से पहचानती हो वही तो तुम्हारी अजेय शक्ति छिपी हुई है। वही तो है तुम्हारे मातृत्व की मंगलमयी विपुल शक्ति। कल्याणी ! उसी शक्ति के समीप ही तो आज माँ के मंदिर में मैंने तुम्हारी अर्चना की थी। वही तो है मेरी शक्ति का स्रोत ! नहीं कल्याणी ! उसे तुम कभी अपनी कमजोरी मत समझना ! कभी नहीं !!"

महात्मा की उस एक ही बात ने मेरे समीप ऐसा प्रकाश-पुंज फैला दिया कि मन का समस्त संताप एक ही क्षण में मिट गया।

उन महात्मा के प्रति मन में उमड़ती श्रद्धा से अभिभूत हो मैंने अपने हाथ उनके चरणों के समीप बढ़ाए तभी वे गुरु गम्भीर स्वर में बोले—"कल्याणी ! तुम मेरी आराध्या हो यह कभी एक क्षण के लिए भी न भूलना !"

सुनकर मैं मारे अचरज के उन्हें देखती की देखती रह गई।

वे मुस्कराते बोले—'कल्याणी ! बचपन में अपनी माँ के मुंह से स्वाँति नक्षत्र की वर्षा और चातकी के उस नियम—उस साधना की बात सुनी थी कि वह वर्षों प्यासी बैठी रहती है। उसके चारों ओर धुंआँधार पानी बरसता है पर वह सन्यासिनी कभी चोंच खोल कर उस पानी को नहीं पीती। सारे जीवन स्वाँति नक्षत्र में बरसी बूंद के लिए आकाश की ओर आँखें उठाए देखती रहती है।

एक दिन अपनी माँ से ही मैंने जाना कि घर के समीप ही किसी पेड़ पर बैठी चातकी पुकार रही है—"पी कहाँ ?"

तभी मेरी माँ ने मेरे सिर को अपने हृदय से लगा कर गद्-गद् कंठ से कहा था—बेटा ! हम सबके इस शरीर में हमारी आत्मा इसी चातकी की तरह दिन-रात पुकारती रहती है—"पी कहाँ ? पी कहाँ ?" पर संसार की इस आपा-धापी में हमारी ही आत्मा की पुकार हमारे कानों तक नहीं आ पाती ?

कल्याणी ! एक दिन वही मेरी माँ हम सबको छोड़ कर कहीं चली

गई ! थोड़े दिनों बाद सुना कि वे हरिद्वार है ! फिर सुना कि काशी में देखी गई थीं पर अब बहुत बर्षों से उनके सम्बन्ध में कुछ नहीं सुना । पर जो एक दिन वे मुझे सुना गईं थी सो मैं कभी नहीं भूला । अपनी ही आत्मा की पुकार सुनने के लिए मैंने कालेज की प्रोफेसरी छोड़ी पर मैं अपनी उस पुकार को कभी नहीं सुन पाया, जिस रोज सुना तो लगा जैसे एक ही क्षण में मुझे सिद्धि मिल गई है ।

मैं बीच ही में बोली—"कहाँ सुनी थी ? कैसे सुनी ?"

"उस मंदिर में देवता के समीप कल्याणी ! जब तुम्हारा स्वर सुना तो लगा तुम्ही हो वह सन्यासिनी चातकी जिसका स्वर मैंने कभी बचपन में सुना था । तुम्हारे और चातकी के स्वर में इतना साम्य है कि उस दिन मंदिर में मुझे लग रहा था जैसे चातकी के स्वर को विधाता ने मनुष्य का शब्द दे दिया है ।

कल्याणी ! इतने दिन तुम आश्रम में रहीं पर मैंने कभी तुम्हें भजन गाने के लिए नहीं कहा—जानती हो क्यों ?"

"नहीं, कभी-कभी सोचती तो थी कि कभी आप भजन गाने के लिए क्यों नहीं कहते ?"

"कई बार मन हुआ कि मैं भजन गाने के लिए कहूँ पर यही सोच कर नहीं कहा—कहा क्या कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि मैं तुम्हारा गुनगुनाना भी नहीं सह पाया । कल्याणी ! तुम्हारे कंठ में कंठ के कम्पन में कुछ ऐसा है कि उसे सुनकर अन्दर ही अन्दर प्राण छटपटाने लगते हैं !"

उनकी बात सुनकर मुझे अपनी सुजाता की याद हो आई ! जरा-सा मैं गाती तो सामने आकर मेरे ओठों पर अपनी नन्ही-सी अँगुली रखकर अपनी डब डबाई आँखों से मुझे देखने लगती थी ।

तभी वे महात्मा बोले—"देवी ! गाड़ी रुक रही है । मैं इसी स्टेशन पर रुक जाऊँगा । यहाँ से आश्रम पास ही है ।"

मैं रुआँसी-सी बोल पड़ी—"उतर जाएंगे ?"

"हाँ, यहाँ से पास रहेगा !"

कुछ देर चुप रहकर बोले—"कल्याणी ! कब लौट रही हैं ?"

"दो चार दिन रह कर लौट आऊंगी ।" कहते-कहते ओंठ तो यह कह गये पर मन कह रहा था—"मैं कहीं नहीं जाऊँगी—कभी नहीं जाऊँगी । सदा-सर्वदा जन्म-जन्मान्तर तक तुम्हारे ही समीप रहूँगी ।"

१४

दिल्ली स्टेशन निकट आते ही डिब्बे के यात्री अपना सामान ठीक करने लगे और मैंने मिन्नी का वह पता मन ही मन दुहराया जो कभी मिन्नी का राजकुमार मुझे बता गया था। मेरे पास सामान तो था नहीं। गाड़ी रुकते ही मैं उतरी और टिकट देकर स्टेशन से बाहर हो गई। उसी पते पर जब ताँगे से उतरी तो अन्दर ही अन्दर किसी ने कहा—यह कैसी जगह है। सब ओर न जाने कैसे इन्सान घूम रहे हैं जिनका वेश-भूषा विचित्र है, जिनके देखने का ढंग अजीब है, जिनके चेहरों पर न जाने कसी अशुचिता-सी है।" मैं उस राजकुमार के बताये नम्बर के मकान में सीढ़ियाँ चढ़ती जब ऊपर जाने लगी तो देखा सीढ़ियों वाली दीवाल पान की पीक से रंग गई है।

उस समय दोपहर के दो बजे थे पर सारे घर में सन्नाटा था। सामने देखा कि एक औरत अधनंगी खड़ी है। उसे देख कर मन घबराया। तभी पड़ौस के कमरे से एक आदमी निकला—बड़े-बड़े बालों वाली टोपी पहने था। गले में रंगीन रूमाल बँधा था—जब मुझसे पूछा—"किससे मिलना है ?" तो उसके दाँतों पर सोने की परत चमक गई।

उस घिनौने आदमी को देख कर मैंने चाहा कि उल्टे पैर लौट जाऊँ तभी मैं बोल पड़ी—"मिन्नी यहाँ रहती है ?"

"वह उस चौदह नम्बर में हैं।"

"मैं चौदह नम्बर के कमरे की ओर बढ़ गई।"

मैंने किवाड़ खटखटाये। किवाड़ खुलते ही शराब की ऐसी भभक उस कमरे से निकली कि मेरा सिर चकरा गया। मेरी आँखों ने जो देखा सो देख कर कुछ देर तक मैं अपनी आँखों पर विश्वास ही न कर पाई।

मैंने देखा कि मिन्नी एक पलंग पर अधनंगी लेटी है। उसकी टाँगों की साड़ी हट गई है। कंधे उधड़े हैं। उसकी आँखें नशे में लाल हैं।

मुझे देखते ही वह पहले घबराई फिर धीरे-धीरे उसके चेहरे पर बिखरी घबराहट मिट गई। वह रुँआसी-सी मेरी ओर झपटी और अपनी बाहों में भर कर हिचकती-सी बोली—"जीजी ! तुम लौट जाओ। जल्दी लौट जाओ नहीं तो वे लोग तुम्हें यहाँ से कभी नहीं जाने देंगे। जीजी जाओ ! जाओ।"

कहते-कहते वह मुझे कमरे से बाहर धकियाने लगी। मैं अचरज से उसके मुँह की ओर देखे जा रही थी। उसके मुँह से शराब की बदबू निकल रही थी और जी मितला रहा था पर समझ नहीं पाती थी कि जिससे मिलने के लिए इतनी दूर से आई हूँ सो वह इस तरह मुझे कमरे से बाहर धकिया क्यों रही है ? कौन हैं वे लोग जो मुझे यहाँ से जाने नहीं देंगे।

तभी उसने मेरे कान में धीरे-धीरे कहा—"जीजी यह वेश्याओं का

चकला है। जाओ जल्दी चली जाओ।"

सुनते ही मेरे पैर कांपने लगे और जैसे ही मैंने घबरा कर सीढ़ियों की ओर अपने पैर बढ़ाये वैसे ही वह बालोंवाली टोपी पहिने घिनौना आदमी मेरी ओर बढ़ा और बोला—"जानेमन कहाँ ? अभी तो आई हो। थोड़ी देर तो तसल्ली से बैठो।"

मैंने उसकी बात की ओर ध्यान नहीं दिया। मैंने एक सीढ़ी ही पार की कि उसने मेरा हाथ पकड़ लिया। उसने मेरा हाथ इतनी जोर से पकड़ा था कि हाथ की सारी हड्डियाँ कड़कड़ा गईं। वह खींचता मुझे मिन्नी के कमरे में ले गया और बोला—"आज की रात इस पिंजड़े में ठहर ! कल तेरा पिंजड़ा बन जायेगा। अपने आप कभी-कभी ही परिन्दे फँसते हैं।"

कहते-कहते खुशी में मर कर उसने अपसे ओंठ अपनी हथेली पर लगाए और ओठों से एक घिनौनी पुचकार निकालता कमरे से बाहर हो गया। जाते-जाते वह कुण्डी बाहर से बन्द करता गया।

मैं पिंजड़े में नई फँसी चिड़िया की भाँति पर फड़फड़ाने लगी तब मिन्नी ने सुबकते-सुबकते कहा—"जीजी ! अब क्या होगा ? जीजी ! यह तुमने क्या किया ?" बड़ी देर तक हम दोनों जहाँ के तहाँ पड़े सुबकते रहे।

साँझ हुई और मुझे किसी दूसरे कमरे में ले जाया गया। वह कमरा मिन्नी के कमरे से अच्छा था। दीवालों पर नंगे अधनंगे चित्र टंगे थे। सामने ही एक बड़ा शीशा लगा था।

उस कमरे में ले जाकर वही घिनौना भेड़िया बोला—"पंछी ! यह कभी मत भूलना कि जो हमारे पिंजड़े से निकल कर उड़ना चाहता है उसके पंख नोच कर बिखेर देने में मुझे देर नहीं लगती। पंख कैसे नोचे जाते हैं ? यह जानना हो तो अभी दिखाए देता हूँ।"

कह कर उसने आवाज लगाई—"अमीना !"

उस सम्बोधन के साथ ही एक अठारह बीस बरस की पतली दुबली

गोरी लड़की सामने आ खड़ी हुई ।

उसके सामने आते ही उस भेड़िये ने एक झटके के साथ उसके बदन से लिपटा कपड़ा उतार दिया । वह खड़ी थी अनावृत उस रूप में जिसमें शिशु अपनी मां के पेट से जन्म लेता है । उसका सारा बदन लोहूलुहान हो गया था जगह-जगह से खाल कट कर जहाँ तहाँ लटक गई थी ।

तभी वह भेड़िया गुर्राता बोला—"जिस बेंत ने यह खेल खेला है वह दिन रात तेल पीता है और वक्त आने पर ऐसी उड़ने वाली चिड़ियों का खून पीते उसे देर नहीं लगती ।"

* * * *

उस रात मैं चुपचाप अपने बिछौने पर लेटी रही सारी रात उस अमीना का वह लोहूलुहान उधड़ा बदन मेरी आँखों के सामने खड़ा रहा । एक पल को भी मैं पलक न झपका पाई ।

रात के चार बजे होंगे तब जाकर कुछ देर के लिए मेरी आँख लग गई । और तभी सपनों में मैंने देखा कि महात्माजी मेरे समीप ही खड़े हैं । कह रहे हैं—"जो भोग है सो तो भोगना ही है उससे बचोगी कैसे ? घबराओ नहीं मैं तुम्हारे साथ हूँ ।"

तभी आँख खुल गई । बिजली के उस प्रकाश में मैं सब ओर भौंचक्की-सी देखने लगी जैसे महात्मा वहीं आस-पास ही खड़े हैं । तब ध्यान आया कि वह मात्र सपना था । महात्मा यहाँ से बहुत दूर आश्रम में हैं और वह किसी पाप का भोग भोगने के लिए दिल्ली के बदनाम चकले में पड़ी है ।"

सहसा बिछौने पर से उठ कर मैं खड़ी हो गई । अपने आप ही पर अचरज करने लगी कि इस बिछौने पर वह रात भर कैसे पड़ी रही । न जाने कैसे-कैसे कीड़ों से बिजबिजाते पशु इस बिछौने पर आकर लेटे होंगे । उनके मुंह से टपकी लार—उनके शरीर के पसीने—और मैंने उठाकर उस बिछौने को उठाकर एक ओर फेंक दिया ।

उस पूरे दिन मैंने अन्न का ग्रास और पानी की बूंद तक नहीं पी ।

सांझ के समय इस चकले की हिस्सेदारिन मुटल्ली मालकिन आई। तरह-तरह से समझाती रही—मार-पीट की धमकी देती रही और बकती झकती चली गई।

थोड़ा अँधेरा होते ही उस मकान की बत्तियाँ जगमगा उठीं। नीचे गली में भीड़ इकट्ठी होने लगी। अड़ोस-पड़ौस के कमरों में तबले ठनक उठे, बाजे बजने लगे। औरतों के कंठों से गीत और आत्माओं का चीत्कार फूटने लगा। उसी समय वह भेड़िया मेरे कमरे में आया और एक पोशाक सामने रखकर बोला—"चल मेरे साथ, नहा-धो और इस पोशाक को पहिन ले। दिल्ली का एक सेठ आने वाला है। अगर खुश कर दिया तो रोज-रोज के झगड़े से बच जाएगी चल उठ।"

मैं कुछ देर तो सोचती रही कि क्या करूँ फिर सोच समझ कर उसके साथ गई। नहाई-धोई। उस मुटल्ली ने मेरा श्रृंगार किया। पोशाक पहनी और अपने कमरे में लौट आई।

तब तक मेरे कमरे को सजा दिया गया था। कमरे में अगर बत्तियाँ जल रही थीं। चारपाई के पास ही जमीन पर मोटे गद्दों पर बगुले के पंखों जैसी चादरें बिछी थीं।

रात के दस बज गये थे। मैं चुपचाप उन्हीं गद्दों पर बैठी कभी अपने दुर्भाग्य को, कभी सुजाता की बातें, कभी महात्मा की तरह-तरह की बातें सोचे जा रही थी। उस सब उड़ान में एक ही बात तरह-तरह से मेरे मन में उठती थी कि यह सब मुझ से कैसे भी नहीं सहा जाएगा। तब इस शरीर से अपनी उस आत्मा को कैसे निकाल पाऊँ? कैसे इस पिंजर में तड़पते प्राणों को बाहर निकालूँ और चातकी की तरह "पी कहाँ? पी कहाँ?" करती अपने उस विराट पिया की नगरी में उड़ जाऊँ?

सोचते-सोचते अपने ध्यान में ऐसी डूबी कि मुझे ध्यान ही न रहा कि मैं कहाँ-क्यों बैठी हूँ। मेरे होंठ धीरे-धीरे उसी भजन को गाने लगे जो कभी महात्मा के समीप गाया था—"मोहि जाना राम नगरिया रे!"

जिस बात से मुझे आन्त-
रिक घृणा थी, जिसकी मैंने
कभी स्वप्न में भी कल्पना न की
थी, जब वही कठिन सत्य मेरे सामने
आ खड़ा हुआ तो अन्दर ही अन्दर
मेरी आत्मा वहाँ से दूर बहुत दूर कहीं भाग
जाने के लिए तड़प उठी। उसी कामना को
लिए मैं गाए जा रही थी—'मोहि जाना राम नगरिया रे!' उस असीम-
अनन्त शून्यता में मैं कब तक
उड़ सकती थी। उड़ते-उड़ते पंख
थक गए और जब सत्य की धरती
पर साँस लेने के लिए उतरी तो देखा
एक श्वेतकाय अधेड़ पुरुष मेरे ही समीप
बैठा है। उसे अपने एकान्त कमरे में बिलकुल
समीप बैठे देख अन्दर ही अन्दर सत्य की बिजली
सी कौंध गई। तब समझ में आया कि मैं अपनी राम नगरिया से दूर
दिल्ली के चकले खाने में हूँ और वहाँ मेरी काया के लोभी कोई शौकीन

१५

सेठ जी बैठे हैं। सेठजी ने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिए थे। काया उनकी गोरी थी—कपड़े श्वेत और बाल खिचड़ी थे। मुंह में पान का बड़ा बीड़ा दबाए वे मेरी ओर देखते चुपचाप बैठे थे।

बड़ी देर तक चुपचाप बैठे रहे और मैं मन ही मन सोचे जा रही थी।

जिस रस-रूप-गंध भरे कुसुम को मन ही मन उन देवता के चरणों पर चढ़ाने के लिए दिन-रात तड़पती रही सो क्या आज इसी को चढ़ाना होगा नारी की लाज—कुमारी के सपने—मुझ कामिनी का श्रृंगार क्या इसी के समीप तोड़ कर सब कुछ फेंक देना होगा।

तभी मेरी दृष्टि समीप बैठे उस व्यक्ति को भेदती उसके अन्दर के समस्त भुवनों में घूम फिर आई। तब लगा कि—

नहीं, वहाँ तो वैसा कोई नहीं है जो अन्धा होकर छीनता है—झपटता है और चाँदी के टुकड़े—मुंह पर मार कर चला जाता है जैसा हर चकले की हर कोठरी में होता है। कैसे—क्या होता है सो कभी देखा नहीं था। किताबों में पढ़ा था और वही मेरे समीप था।

मैं उस सेठ को देखे जा रही थी पर समझ नहीं पाती थी कि जब वह मेरी काया के लोभ में—उसे नोचने झकझोरने ही आया है तब उस तरह पत्थर की तरह जहाँ का तहाँ क्यों बैठा है ?

मैंने अन्दर ही अन्दर निश्चय कर लिया था कि जब विधाता ने मुझे ऐसी जगह फेंक दिया है जहाँ बच निकलने की कोई राह नहीं है तब चीख-चिल्लाकर बचने की कोशिश नहीं करूँगी। चुपचाप इन खून के प्यासे पशुओं के समीप अपने आपको फेंक दूँगी और जब वे मेरे अंग-प्रत्यंगों को अपने पंजों से नोचेंगे तब मैं अपनी इस काया को छोड़ कर अपनी राम नगरिया में जा बैठूंगी। काया जब तक चलेगी चलती रहेगी—कोई उसका माँस-मज्जा चखेगा-तो चखता रहेगा पर मुझे कोई भी न छू सकेगा।

यही निश्चय लिए मैं उस सेठ के समीप बैठी थी। आने वाले हर क्षण इसी प्रतीक्षा में थी कि वह अपना पंजा उठाए और मैं अपनी

दुनियां में उड़ जाऊँ पर उसने वैसा कुछ भी नहीं किया।

वह मुझे देखता-देखता उठा। अन्दर की साँकल खोली और चुपचाप बाहर चला गया।

उसके जाने के बाद मुझे लगा जैसे बिना डसे कालानाग ही सहसा मेरे सामने से सरक गया है। मैंने दौड़ कर अन्दर से कुण्डा बंद कर लिया और बिछौने पर धड़ाम से जा पड़ी।

मैं समझ नहीं पा रही थी कि यह अनहोनी हो कैसे गई? ऐसा तो इस धरती पर कभी नहीं हुआ होगा कि भूखा शेर अपने समीप पड़े जीवित शिकार को छोड़ कर चला जाए।

सारे दिन की हारी-थकी घबराई थी सो सहसा उस बच जाने के आनन्द को लेकर पता ही न चला कि कब आँखें झपक गईं।

जब सुबह हुआ तो किसी ने बाहर से कुण्डा खटखटाया। मैंने कुण्डा खोला और सुबह ही एक घिनौना चेहरा मेरे समीप आ खड़ा हुआ।

वह वही मुटल्ली औरत थी। मेरे समीप दस-दस के पाँच नोट रख कर कंठ में बनावटी स्नेह भर कर बोली --

"है ना बेटी! मैं कहती थी ना—अरे मैं क्या गलत कहती थी? जब आई थी तब मेरे पास क्या था? अरे बेटी! मैं तो कहती हूँ, जो करो मन से करो। जब अल्लाह-ताला ने हमें इसीलिए बनाया है तो भागने से क्या होगा? क्यों बेटी! मैं क्या गलत कहती हूँ।

बेटी! रात वाले सेठ ने दस-दस के नोटों की इतनी बड़ी गड्डी मेरे सामने रख दी कि मैं तो हैरान होकर उसका मुंह ही देखती रह गई। हरामजादा बड़ा मक्खीचूस है। कई मिलों का मालिक है पर औरत को घर नहीं बुलाता यहीं आता है और सौ दो सौ रुपया देकर चला जाता है पर बेटी! तुमने पिछली रात उस पर क्या जादू किया कि हजार की गड्डी देकर चला गया।

बेटी मैं जानती हूँ दूसरे चकलों में लोग तुम्हीं से कमाते हैं और सारा का सारा अपनी गांठ में रख कर थोड़ा सा तुम्हें दे देते हैं

पर मैं ऐसा कभी नहीं करती। तुम्हारे खाने-पहिनने के दिन हैं। ऐसी कंजूसी मैं करूँ तो तुम चलोगी कितने दिन। नहीं बेटी? मैं तो कहती हूँ तुम खुश रहोगी तो ग्राहक को खुश रक्खोगी। ग्राहक खुश होगा तो मुझे खुश करके जाएगा। क्यों बेटी! है ना? मैं क्या झूठ कहती हूँ?" कहते-कहते वह रमजानी स्नेहातुर हो मुझसे रूठती आ बैठी। उसके मुँह से शराब की ऐसी तीखी दुर्गन्ध निकल रही थी कि मेरा सिर चकराने लगा पर मैंने कुछ नहीं कहा। सब चुपचाप सहे जा रही थी।

मुझे अपने आप पर ही अचरज हो रहा था कि यह सब-कुछ मैं चुपचाप कैसे पिए जा रही हूँ।

वह आई और मेरे अंग प्रत्यंगों को ऐसे थपथपाने लगी जैसे किसी के घायल अंगों पर मरहम लगाने की कोशिश कर रही है।

पिछली रात जब पहली बार उसने सजा-सजा कर मुझे कमरे में भेजा तब भी उसने इसी तरह मेरे कुछ विशेष अंगों को थपथपाया था जैसे मैं किसी भयानक लड़ाई में जा रही हूँ।

मेरे उन अंगों को थपथपाती बोली—बेटी! अपनी जिन्दगी में जब मेरे खाने पहनने के दिन थे तब मुझे भी सैकड़ों मर्दों से काम पड़ा था। मैं तो कभी समझ ही न पाई कि इन्हें पसन्द क्या है? न जाने कोई क्या देख कर मुझ पर लट्टू हो जाता था और कोई आँख उठा कर नहीं देखता था पर जैसा जादू तूने इस सेठ पर किया है ऐसा मैंने तो कभी न देखा—न सुना।

पहली रात है। सोचा था हद देगा तो पाँच सौ। पर वह मुआ तो हजार की गड्डी छोड़ गया।" कहते-कहते उसने सन्तोष की एक गहरी उसाँस छोड़ी और थोड़ी देर चुप रह कर बोली—"देखो बेटी! मैं अपने चकले की हर औरत को बीसवाँ हिस्सा देती हूँ पर पता नहीं तुम्हारे लिए मेरे अन्दर ऐसा क्या हो गया है। बेटी तुम्हें यह कम लगें तो लो……" कहते-कहते उसने अपना भारी-भरकम हाथ एक विशेष स्थान में डाल कर दस-दस के पाँच नोट और निकाल लिए।

मैंने धीरे से कहा—"पर मौसी ! मुझे तो कुछ भी नहीं चाहिए। इन सबका क्या करूँगा ?"

सुनकर उसने मेरे चेहरे की ओर देखा फिर दूने उत्साह से बोली—"ना बेटी ! तुम घबराओ नहीं। मैं सब समझती हूँ। अरे मैं क्या अपनी पहली रात भूल पाई हूँ। तब मेरी उम्र ही क्या थी ? बेटी ! मुझ से तो उसके बाद दो दिन तक उठा ही नहीं गया था। मुश्किल से तेरह सालें पार की थीं।" कहते-कहते वह एक घिनौनी मुस्कान अपने ओठों पर बिखेरती अपने अतीत में डूब गई।

वह खिड़की की ओर चुपचाप देखे जा रही थी। रह-रह कर वह भद्दा चेहरा बार-बार खिल आता था तब किसी आन्तरिक आनन्द में भर कर बोली—"पर बेटी ! मैं उस रात को आज तक नहीं भूली हूँ। सारी जिन्दगी चाहे कितना ऐश-आराम करो पर उस रात की बात ही कुछ और है।

उसके बाद अपनी उस रात का जैसा अश्लील वर्णन करने बैठी जो मुझसे कैसे भी न सुना जा रहा था। जब भी मैं वहाँ से उड़कर अपनी दुनियाँ में जाना चाहती तभी वह मेरे कंधे बाँह-हाथ झकझोरती अपनी उस पहली रात के आनन्द में भागीदार बनाने की कोशिश करने लगती। अन्त में मुस्कराती बोली—"बेटी ! घबराना नहीं। मैं सब समझती हूँ। यहाँ सब इन्तजाम है। ऐसी-ऐसी दवाएँ हैं कि अभी लगाई और दो घंटे में आराम। मैं अपने हाथ से लगाऊँगी। अभी लाती हूँ।" कहते-कहते उसने उन नोटों को मेरे सामने रक्खा और जाने लगी।

मैं घबराती बोली—"नहीं, मौसी उसकी जरूरत नहीं है।" सुनकर लगा जैसे उसके अन्दर भरे किसी समुद्र का बाँध अचानक टूट गया हो। मेरी बात सुनकर उसने अपनी काली-कलूटी घिनौनी बाँहों में मुझे जकड़ लिया फिर वे वीभत्स मोटे ओंठ मेरे माथे पर भींचती-पुचकार की एक भद्दी आवाज निकालती बोली—"अरे मैं क्या समझती नहीं हूँ ? वह मुआ मक्खी चूस यूँ ही हजार की गड्डी थोड़े ही छोड़ जाता। अरे

उम्र-उम्र की बात है। इस उम्र में वैसा नहीं होता पर मैं मालिश वाली को अभी भेजती हूँ। जरा सा कहीं कुछ होगा भी तो वह बिलकुल ठीक कर देगी।"

मैं बहुत मना करती रही पर वह मानी नहीं। थोड़ी ही देर बाद उसने एक औरत को भेज दिया। उसके हाथ में एक छोटा सा चमकता बक्स था। बक्स मेरे कमरे में रख कर बोली—"कहीं चोट ज्यादा तो नहीं है? परवाह मत कर, मुझे ठीक करना खूब आता है। अरे तुम तो खुदा के फजल से अपनी उमर में हो, मैंने तो बारह-बारह साल को लड़कियों को सँभाला है।"

कहते-कहते वह भी उसी घिनौने ढंग से हँसने लगी जैसे वह मुटल्ली रमजानी हँसती थी।

मैं घबराती बोली—"मुझे कुछ नहीं चाहिए। मैं ठीक हूँ। तुम जाओ।"

बोली—"नहीं जी, ऐसा कैसे हो सकता है? रमजानी मौसी पूछेंगी तो मैं क्या कहूँगी।"

"तुम उसकी परवाह मत करो। मैं कह दूँगी कि तुम्हें ठीक करना बहुत अच्छी तरह आता है और तुम मुझे ठीक करके चली गई हो। बस। अब तुम जाओ मैं थक गई हूँ।"

सुनकर उसने मेरी दोनों बाहें पकड़ कर अपनी कमर में उलझा ली फिर कंधों को दबाती बोली—"अरी! यह थकान मिटाने ही तो मैं आई हूँ। यह नहीं करूँ तो मुझे कौन पूछे—न रूप-न शक्ल—न उमर। ये तो धक्के मार कर निकाल दें। तो बताओ सारी उमर तो यहाँ बिता दी अब मैं कहाँ जाऊँ? कहाँ जाकर किसके साए में अपना यह सिर छिपाऊँ।"

कहते-कहते वह रुँआसी हो आई। कुछ देर चुपचाप मेरे कन्धे दबाती रही फिर बोली—"अरे मैंने यहाँ क्या-क्या नहीं सहा है। ऐसे-ऐसे जानवर आते हैं कि एक ही रात में मार कर रख जाते हैं लेकिन

धीरे-धीरे आदत पड़ जाती है। फिर सब ठीक हो जाता है पर पहले-पहल जो दु:ख मिलता है सो क्या मैं कभी भूल पाऊंगी। इसीलिए जब कोई पहले-पहल यहां आता है तब सच कहती हूं मैं पैसे के लिए उसके पास नहीं आती। मैं तो बस मन से चाहती हूं उस बेचारी को तकलीफ न हो। कैसे ही मैं उसकी सब पीर खींच लूं।"

कहते-कहते वह मेरे ऐसे अंगों को छूने लगी—कि मैं एकाएक चौंक पड़ी। मैंने उसके हाथ थाम कर कहा—"नहीं, मुझे कहीं दर्द नहीं है। बस अब तुम आओ।" कह कर मैं बिछौने से उठ कर खड़ी हो गई।

तब जाते-जाते बोली—"देखो ! कभी-कभी ऐसे आ जाते हैं कि बेहाल कर देते हैं फिर दो दो, चार-चार दिन तक उठा तक नहीं जाता। अरे मेरे सामने क्या लाज-शरम करती हो। ऐसा वैसा कभी कुछ हो तो बुला लेना !"

जाते-जाते रुक गई। झेंपती-सी बोली—"कुछ मिलेगा नहीं मालकिन ?"

सुन कर मैंने उन रुपयों में एक नोट उठा कर उसकी ओर बढ़ा दिया। वह इस तरह आगे बढ़ी जैसे रोटी का टुकड़ा देख कर कुत्ता आगे की ओर बढ़ता है।

वह चली गई और मैं अन्दर से कुण्डा बन्द करके बिछौने पर लेट गई। मैं उन दोनों की बातों से दूर उड़ जाना चाहती थी—पर उन दोनों ने जिस तरह की बातें बताईं थीं, जैसे घिनौने चित्र मेरे सामने बना कर दिखाए थे सो कैसे भी भूल ही न पाती थी।

तब उस आन्तरिक खिचाव-तनाव को मैंने ढीला छोड़ दिया और पड़ी पड़ी उन्हीं घिनौने चित्रों को देखने लगी, जिन्हें बना कर थोड़ी ही देर पहले वे दोनों चली गई थीं।

तब लगा कि मेरे अंगों पर, मेरे माथे पर जो बिजबिजाते कीड़े वे छोड़ गईं थी उन्हें जाकर जल्दी से कहीं धो डालूं।

मैं उठी और स्नान करने उसी ओर चली गई जहां पिछली रात उस रमजानी ने स्नान कराके मेरा शृंगार किया था।

१६

दूसरे दिन तीसरे पहर का समय था। किसी ने मेरे कमरे का कुण्डा खटखटाया। मैंने कुंडा खोला तो देखा कि वही मिश्री का राजकुमार है जो अजमेर से मिन्नी को लाया था। उसके साथ सांवले रंग की एक लड़की थी। उसे देखते ही मुझे लगा कि उसे मैंने कहीं देखा है। तभी वह राजकुमार बोला—"मिस बनर्जी! यह भी अजमेर से तशरीफ लाई हैं। मन न लगता हो तो थोड़ी देर यहां बैठ जाओ। मैं तुम्हारे लिए जगह की तलाश करता हूँ। मिस बनर्जी ने हाथ से अपनी स्वीकृति का संकेत किया और मेरे बिछौने पर आकर बड़ी बेतकल्लुफी से बैठ गई।

मिस बनर्जी को कुछ देर मैं एकटक देखती रही तब सहसा मुझे आश्रम की वह रात याद हो आई जब मैंने शीशे पर दो नंगे चित्र देखे थे।

वह बोली—पहिचाना ?"

मैंने धीमे स्वर में कहा—"हाँ।"

"वहाँ से आकर तुम कहाँ रहीं ?"

"ऐसे ही भटकती रही।"

"भटकने वालों के लिए यहाँ से अच्छी जगह दूसरी नहीं है।"

"तुम्हें यह जगह अच्छी लगती है ?"

'हाँ सबसे अच्छी बात यहाँ यह है कि जो है वही वेश है, वही रंग है। सियार हैं। तो सियार हैं। रंगे सियार तो नहीं हैं।"

"रंगे सियार !"

"हाँ आश्रम में रंगे सियार थे। यहाँ भेड़िये हैं। भेड़िये मुझे पसन्द हैं। अपना रूप तो नहीं बदलते। जानती हूँ कि भेड़िये के दाँत कितना गहरा घाव करते हैं। उसके लिए पहले से तैयार भी रहती हूँ पर उन रंगे सियारों के बारे में कुछ पता नहीं चलता कि कब कहाँ नोंच लें।"

वह कहे जा रही थी पर मैं इसी सोच में पड़ी थी कि यह यहाँ कैसे आ गई ?

तभी वह बोली—"क्या सोच रही हो ? सोचती हो कि मैं यहाँ कैसे आ गई ?"

"हां, तुमने तो उस मंत्री को मन से स्वीकारा था फिर यहाँ कैसे ?"

"स्वीकारा था उसके वायदे पर।"

"वायदा ?"

"हाँ, सदा कहता था कि उसकी पत्नी बीमार है। जल्दी ही मर जाएगी तो मुझसे शादी करेगा। और न मरी तो मुझे उप-पत्नी की तरह रखेगा। शहर में कहीं मकान ले देगा। साथ में खर्च देगा।

उसकी पत्नी तुम्हारे सामने ही दिल्ली चली आई थी। दिल्ली उसकी कोई रिश्तेदार थी। कहीं हास्पीटल में बीमार थी। उसकी देख-रेख करने आई थी। जब लौटी तो उसकी अपनी बीमारी बढ़ गई थी। मंत्री ऊपर से तसल्ली देता था और मुझे 'बेटी' कहा करता था पर जैसे ही

वह आश्रम छोड़ कर शहर जाती वैसे ही मुझे अपने निकट लिटा कर उसके मर जाने की कल्पना कर-करके रंगे-बिरंगे सपने दिखाया करता था।

ऐसे ही दिनों में एक दिन मुझे लगा कि मैं कुमारी कन्या माँ बनने जा रही हूँ। जब मुझे पक्का भरोसा हो गया तो उस मंत्री से कहा।

मैंने सोचा सुन कर उसे खुशी होगी क्योंकि उसके अपनी कोई सन्तान नहीं थी। पर उसका चेहरा देख कर मैं कांप गई। उसका चेहरा बिलकुल सफेद पड़ गया था। कहीं खून की एक बूंद तक नहीं थी।

घबराया-सा बोला—"अच्छा! अच्छा!! कोई बात नहीं—सब ठीक हो जाएगा। इसमें घबराने की क्या बात है।"

वह मुझे झूठा ढाढ़स बँधा रहा था असल में उस खबर को सुनकर उसके प्राण निकले जा रहे थे।

दो तीन दिन ऐसे ही निकल गए। एक दिन बोला—"चलो, इंदौर में मेरे एक मित्र रहते हैं। वहाँ तुम्हें थोड़े दिन के लिए छोड़ दूंगा।"

मैंने कहा—"नहीं, मैं कहीं नहीं जाऊँगी। मैं इन्दौर क्यों जाऊँ? जो बात सच है सो सबसे कह क्यों नहीं देते? कितनी बार आपने वायदा किया है कि मुझे अजमेर में मकान देंगे। खर्चा देंगे सो वही क्यों नहीं देते? मैंने अपने पिताजी को सब सच-सच बता दिया है।"

यह सुनते ही वह रुँआसा-सा हो आया। बड़ी मुश्किल से उसकी आवाज निकली। बोला—"क्या-क्या, क्या पिताजी से बोल दिया? यह तुमने क्या किया?"

मैंने कहा—'उसकी चिन्ता मत करो। उन्हें शराब के लिए रुपये चाहिए। मैं कुछ करूँ—कहीं रहूँ, उन्हें उससे कोई मतलब नहीं।"

बोला—'सो तो ठीक है पर पीकर जहाँ-तहाँ मेरी बदनामी करेंगे?'

मैंने कहा—"इसमें बदनामी की क्या बात है? क्या आपने मुझे उपपत्नी बनाने का वायदा नहीं किया था?"

वह टूटती आवाज में बोला—"अरे! सो क्या यह कहा था कि उस

बात का दुनिया में ढिंढोरा पीटना है। चुपचाप रहतीं। लेकिन यह कैसे हो सकता है ? जनता में बात फैल गई तो सारे हिन्दुस्तान के अखबारों में चर्चा होगी। तब मुझे कोई एक वोट भी न देगा।"

मैंने कहा—"न दे वोट। क्या कम कमाया है ? लाखों रुपयों के नोट तिजोरी में हैं। डर काहे का ?"

सुन कर वह चुप रहा। कुछ देर वैसा ही चुप बैठा रहा फिर बनावटी खुशी दिखाता बोला—"अच्छा ठीक है। तुम अजमेर ही ठहरो ! मत जाओ इन्दौर।"

कह कर वह चला गया।

दूसरे दिन मैं सोकर भी न उठी थी। तब पास के कमरे में मैंने सुना। दो आदमियों की आवाजें थीं। एक मंत्री था। दूसरा और कोई था। मेरे कानों ने सुना—"हुजूर ! आप फिक्र क्यों करते हैं ? "ऐसा ठिकाने लगा दूंगा कि पता ही न चले—गई कहाँ ?"

"हाँ भाई ! बस ऐसा ही कुछ करो। मुझे पता न था कि ऐसी लड़की है। वैसे मुझे चिन्ता नहीं थी पर लगता है कि उसने पाप और कहीं कमाया है और बदनाम मुझे करेगी। ऐसी लड़कियों का क्या ठिकाना ?"

"सो तो है ही हुजूर। बदनामी फैलते देर कितनी लगती है ? लोग तो महात्मा जी और पंडितजी के बारे में भी कहते नहीं चूकते ! पंडित जी कहीं दक्षिण में किसी गानेवाली से समय निकाल कर मिलने गए और वह दिल्ली में जब आई तो समय निकाल कर उनकी कोठी पर वह भी आई बस इसी बात को लेकर लोगों ने हवाई किले बनाना शुरू कर दिए। हुजूर ! आप देवता लोग हैं पर जनता तो बदमाश है। अच्छा किया कि आपने केस मुझे दे दिया नहीं तो आज कल ऐसी लड़कियों से गली कूंचे भर गए हैं ! हम पुलिस वाले भी इसका इलाज करना खूब जानते हैं।"

सुन कर मैं सब समझ गई कि मंत्री ने जो सपने दिखाए थे वे सब झूठे थे और अब यह मुझे भी पुलिस के हाथों में दे देगा। तभी मुझे

तुम्हारी और उस कवि की याद हो आई। तुम लोगों को भी इसी तरह उसने जेल भिजवा दिया था। सुना था कि उस कवि को तो उसने जान से ही मरवा दिया। सो! जैसे ही मैंने उन लोगों की बातें सुनीं, मैं चुपके से उठ कर आश्रम से निकल भागी।

थोड़ी ही देर में मैंने देखा कि पुलिस के सिपाही मेरे पीछे दौड़ रहे हैं। मैं गिरफ्तार करके शहर में लाई गई। दिन भर कोतवाली में बन्द रही। रात को मुझे वही पुलिस का अफसर अपने घर ले गया। उसके बीवी बच्चे उस घर में नहीं थे। अकेला था।

मुझे नहलाया-धुलाया। बड़ी खातिर की। खाना-पानी खिलाया फिर बोला—"देखो, मेरी शादी नहीं हुई है। शादी में मुझे भरोसा भी नहीं है। आजकल तो ऐसी हवा फैली है मिस बनर्जी! कि औरत पर मुझे विश्वास ही नहीं जमता। अगर तुम मेरे साथ रह जाओ तो बस फिर जिन्दगी में मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

मैंने पूछा—"मैं भी तो वैसी ही हूँ। मुझ पर भरोसा कैसे होगा?"

बोला—"तुम पर होगा पर यह जो उस मन्त्री का है सो निकालना होगा। फिर एक दिन पंडित को बुला कर शादी कर लेंगे। मेरे चारों ओर तो अन्धेरा था। मैंने सोचा चलो यही ठीक है।

उसने एक दिन एक नर्स को बुलाया। नर्स किसी प्राइवेट लेडी डाक्टर के पास ले गई और मंत्री का वह पाप उन लोगों ने मिल जुल कर धो डाला।

उसके बाद में उस पुलिस आफिसर के साथ रहने लगी। एक दिन जब पुलिस अफसर कहीं ड्यूटी पर दो-चार दिन के लिए बाहर गया था तो एक लड़की आई ओर घबराई-सी बोली—"बहन! यह आदमी अच्छा नहीं है। मैं सामने के मकान में रहती हूँ। इसने इसी तरह बहुत-सी लड़कियों को धोखा दिया है। मुझे भी दिया था। कुछ दिन अपने साथ रखता है फिर चकलों के एजेन्टों के हाथ बेच देता है।"

हम लोगों की बात हो ही रही थी—तभी वह अफसर आया उसके

साथ एक आदमी था। आदमी क्या—यही जो अभी-अभी मुझे तुम्हारे पास छोड़ गया है। बस उसके बाद लम्बी बात नहीं है। मैं रोती-सिसकती रही और उस जानवर ने मुझे बन्द मोटर गाड़ी में डाल कर इसके साथ दिल्ली रवाना कर दिया।

पर कोई बात नहीं। अब इस जिन्दगी का अभ्यास हो गया है। मैं डरती नहीं। सब से पहले तो मेरे ममेरे भाई ने धोखा दिया था।"

कहते-कहते वह चुप हो गई। फिर मेरा तकिया खींचकर अपनी कुहनियों के नीचे दबा कर बोली—"यह सब सुना कर आपको तकलीफ तो नहीं दे रही हूँ ?"

"नहीं, नहीं ! तकलीफ काहे की बस सुन कर लगता है क्या हम लोगों को उसने गढ़ कर इस धरती पर इसी लिए भेजा है ?"

सुन कर वह उफनती-सी बोली—"नहीं, जहाँ हम भेड़-बकरियों की तरह सीधी है, वहाँ उसने हमारे अन्दर दुर्गा को भी बैठा दिया है। अब तो मुझे मरने-जीने की चिन्ता ही नहीं रही। बस आज कल तो मेरे हाथ, मेरी अँगुलियाँ दिन-रात उस ममेरे भाई और उस मंत्री की गर्दन दबाने के लिए मचलती रहती हैं। देखना, सुन लेना एक दिन कि मैं उन दोनों की हत्या करके खुद मर गई हूँ या फाँसी चढ़ गई हूँ। दोनों में से एक बात होके रहेगी·····होके रहेगी।" कहते-कहते उसका गला थरथरा गया।

कुछ देर चुप बैठी रही फिर बोली—"हाँ तुम्हें अपने ममेरे भाई की बात बताती हूँ। नाम नरेन्द्र था। मेरे घर बचपन से ही रहता था। मुझसे छः साल बड़ा था। जब मैं दस साल की थी तभी वह मुझे ऐसी राह पर ले जाने की कोशिश कर रहा था जहाँ आज आ पड़ी हूँ। ऐसे ही दो साल अपने को बचाते कैसे भी बिता दिये। तब माँ जिन्दा थीं। एक दिन उन्हें हैजा हुआ और चल बसीं। मेरे पिताजी माँ को बहुत प्यार करते थे। उनके मरते ही उनका दिमाग खराब हो गया। जो भी बैंक में था सो सब शराब पीकर खत्म कर दिया।

माँ ने मुझे इतना स्नेह दिया था कि शायद इस धरती पर कभी किसी माँ ने अपनी लड़की को नहीं दिया होगा ! तब मैं बारह साल की थी और माँ सदा अपने हाथ से ग्रास तोड़ कर खिलाती थीं ? जैसे साल-दो साल की बच्ची को खिलाया जाता है।

वे चली गईं। एक-एक पल मुझे लगता था कि अब क्या होगा ? रात कट गई तो दिन कैसे कटेगा। दिन बीत गया तो रात कैसे कटेगी।

एक दिन सवेरे से पानी बरस रहा था। पिताजी शराब की कई बोतलें पी गए थे सो बेहोश पड़े थे। घर में कोई था नहीं। मैंने जैसे-तैसे साग सब्जी बनाई। पिताजी ने खाया नहीं। हम दोनों खाना खाकर बैठक में जा बैठे। तब उसने अपनी कालेज की किताबों में से एक किताब लाकर मेरे सामने रख दी।

बोला—"रेखा ! इसे पढ़ जाओ देखो कैसा मजा आता है।" तब मैं तेरह साल की थी ?

मैंने उस किताब का नाम पढ़ा—'काम-विज्ञान'। नाम पढ़ कर मैं कुछ भी न समझ पाई।

बोला—"नाम छोड़ो अन्दर पढ़ो अन्दर"। कहते-कहते वह मेरे पास आया और सटता बैठ गया। मुझे सट कर बैठने से नफरत थी। न जाने कैसी आदत थी कि अगर कोई छू जाता तो फुरफुरी सी आ जाती थी। छूना पिताजी का भी मुझे अच्छा नहीं लगता था, माँ के छूने में न जाने कैसा जादू था। बस, वही अच्छा लगता था।

मैं उससे हट कर अलग बैठ गई। तब उसने पूछा—"जानती हो बच्चा कैसे पैदा होता है ?"

यह बात उसने ऐसी पूछी थी कि मैं भी कई सालों से यह जानने के लिए बेचैन रहती थी। स्कूल की कई सहेलियों ने तरह-तरह से मुझे समझाया था।

जब उसने यह बात पूछी तो मैं सब कुछ भूल गई। न जाने मेरे मन की लाज-शर्म कहाँ गई ? मैं पूछ बैठी—"हाँ ! बताओ कैसे पैदा

होता है ?"

बम सुनते ही वह उस किताब को खोल कर मेरे समीप ही आ बैठा। एक-एक सफा बिना पढ़े पलटे जा रहा था। लगता था जैसे उसने उस किताब को रट लिया है। तरह-तरह के उसमें चित्र थे। जिनकी एक-एक बात समझाए जा रहा था और बहन ! जब उसने वह मोटी किताब समाप्त की तब मुझे चेत आया कि हम दोनों सटे-सटे बिछौने पर लेटे हैं और मेरा हाथ उसके हाथ में है।

उस किताब को सुन कर मुझे लगा जैसे मैं बिलकुल बदल गई हूँ। वह जो मुझे किसी को छूने से नफरत थी सो लग रहा था जैसे वह आदत ही बदल गई है। वह मेरा ममेरा भाई जैसे-जैसे आगे बढ़ रहा था मैं उसी के साथ कदम मिलाए बढ़ी जा रही थी। उसके बाद कुछ महीनों तक उसका संग मुझे ऐसे लगा कि मैं अपनी माँ की भी ममता-स्नेह सब भूल गई। तब मुझे लगता था कि इस ममेरे भाई से बढ़ कर हित-चिन्तक इस धरती पर दूसरा कोई नहीं है।

मेरी जरा-जरा-सी बात का ध्यान रखता था। यहाँ तक कि मुझे साइकिल पर बिठा कर स्कूल ले जाता था और शाम को छुट्टी के समय स्कूल से बाहर साइकिल लिए घंटों प्रतीक्षा में खड़ा रहता था।

तब लगता था कि उसके संग से बड़ा सुख कोई दूसरा नहीं हो सकता।

ऐसे ही दो वर्ष बीत गए और बहन ! मैं पन्द्रह वर्ष की ही उम्र में माँ बन गई। माँ बनने जा रही हूँ यह बात भी एक दिन उसी ने बतलाई थी। यह भी बतलाया कि कुमारी लड़की जब माँ बनती है तब क्या-क्या होता है ? उसने जो-जो बताया सो सुन कर मैं काँप गई। मैंने कहा—"शादी क्यों नहीं कर लेते ? फिर तो मैं कुमारी नहीं रहूँगी।"

बोला—"मैं तेरा ममेरा भाई हूँ। दुनिया क्या कहेगी ? मेरी माँ, मेरे बापू, मेरा गाँव और बिरादरी सब क्या कहेंगे ?"

तब मैंने रोते-रोते उसके पाँव पकड़ लिए। बोला—"परवाह न

करो। एक किताब में कई दवाइयाँ ऐसी लिखी हैं जिनको खाने से सब ठीक हो जाता है।'

उस दिन के बाद वह रोज दवाइयाँ लाता। उबालता और मैं आँख बन्द करके पी जाती। पर उन दवाइयों से कुछ भी नहीं हुआ। बस हुआ यह कि उन्हें पीकर मेरा सिर भन्नाने लगता, चक्कर आते, मैं चलते-चलते धड़ाम से गिर जाती।

ऐसे ही दिनों में एक साँझ ऐसी आई कि वह उस साँझ को लौटा ही नहीं। रात बीत गई और फिर दिन-रात बीतने लगे पर वह नहीं लौटा।

ऐसे ही दिनों में पागलों की तरह मैं अपने घर से निकली और सड़क के किनारे चलते-चलते रेल-गाड़ी की पटरी पर जा पहुँची। जब उधर से रेलगाड़ी आती देखी तब समझ में आया कि मैं रेलगाड़ी के सामने गिर कर अपने प्राण देने के लिए ही भागी आ रही हूँ। गाड़ी अभी दूर थी और मैं उन पटरियों पर लेट गई। आँखें बन्द किए आने वाले हर क्षण में मैं मौत को पुकार रही थी। गाड़ी की आवाज के साथ सीटियों की आवाज मेरे कानों में बढ़ती जा रही थी और तभी एकाएक मैं चौंक गई। एक आवाज के साथ गाड़ी रुक गई।

मैंने आँखें खोलीं। मेरे चारों ओर शोर-गुल था। तरह-तरह की बातें कानों में आ रही थीं। पुलिस आई और मुझे गिरफ्तार कर ले जाने लगी तभी मैंने देखा खादी के कपड़े पहने एक अधबूढ़ा आदमी आया। उसने पुलिस से छुड़ा कर अपने साथ आने के लिए कहा और कंधे पर हाथ रख कर बोला—"घबराओ नहीं बेटी ! आओ मेरे साथ। मैं तुम्हारे घर पहुँचा दूंगा।"

बहन वह वही मन्त्री था जिसने मुझे उसी हालत में छोड़ा जिसमें ले गया था।

आश्रम ले जाकर उसने लेडी डाक्टर को बुला कर मेरे ममेरे भाई का पाप धोया और धीरे-धीरे अपने विष-बीज बोने लगा। उसने जिस तरह के रंगीन सपने मुझे दिखाए थे सो तो मैं बता ही चुकी हूँ। बस

अब तो चाहती हूँ कि·········कि·········।" कहते-कहते उसने मेरे तकिए को एक ओर पटका और उफनती बोली—"बस किसी तरह उन दोनों के प्राण इन अंगुलियों से खींच पाऊँ "

तभी वह राजकुमार आया और बोला—"शहर में एक अच्छा मकान मिल गया है। आओ चलें।"

मुझे पता ही नहीं चला। बातों-बातों में ही साँझ हो गई थी। जाते-जाते बोला —"मैं जल्दी ही आऊँगी।"

१७

दूसरे दिन जब वह अभागी
रेखा बनर्जी चली गई तो बड़ी
देर तक लेटी-लेटी मैं उसी के बारे
में सोचती रही। सोचती क्या एक ही
बात—एक ही प्रश्न मेरे मन में बार-बार
घूम रहा था—क्या यह पुरुष नाम का जन्तु
निरा पशु है ? 'बेटी' कह कर भी उसे उसमें
रमणी कहां सूझ जाती है ? मामा का लड़का भी तो एक तरह से सगा भाई
ही हुआ। आज का भाई भी
भाई नहीं रहा ? तभी वह मुटल्ली
रमजानी आई। आते ही बोली—
"हाय बेटी ! अब तक तो नहा-धोकर
तैयार हो जाती। कुछ तो सूरज डूबते ही
आ धमकते हैं। तुम देख लेना बेटी आयेगा
आज भी वह ! जादू क्या ऐसे जल्दी मिट जाता
है। अरे अभी तो वह महीनों चक्कर काटेगा। साल काट गया तो रखैल
रखने की कोशिश करेगा। अरे इसमें भी हमें क्या नुकसान है ? रखैल,

रखे ! घर रक्खे, यहाँ रक्खे हमें तो एकमुश्त देगा ही।" कहते-कहते वह चौंक पड़ी। बोली —"मैं भी कैसी अहमक हूँ। बके जा रही हूं। अरे आएगा तो आएगा और न भी आया तो मर्दुओं की क्या कमी है? बेटी ! तुम उठो नहा धो लो।"

मैं नहा धो आई और जैसा कर सकती थी श्रृंगार भी कर लिया तब उसी मुटल्ली ने आकर पाउडर के ऊपर एक पर्त और चढ़ा दिया। फिर गाल के पास एक नकली तिल बनाती बोली—

मानती हूँ कि जिस पर मर्दुए मरते हैं सो तुम में कम नहीं है पर अब दो-चार बातें यह भी सीख लो। तुम फिकर मत करो। मैं सब समझा दूंगा। फिर तुम भी कमाओ और मुझे भी कुछ मिल जाए। देखो बेटी तुम्हें एक बात बता दूं। रखैल बन जाने में फायदा ही फायदा है। दूसरे चकले वाले रखैल बनाना पसन्द नहीं करते पर मैं वैसी नहीं हूँ। मैं तो कहती हूँ रखैल बनने में ही फायदा है। तुम तो सुखी रहोगी। वह तो ऐसा समझो कि किसी से शादी, विवाह कर लिया ! उसमें कुछ नहीं बिगड़ता। सालों ज्यों की त्यों रहोगी। फिर आँख से उतरी तो बाजार अपना ही है। क्यों बेटी ! मैं क्या झूठ कहती हूँ?

तभी सुना नीचे से शोर-गुल की, सीटियों की आवाज आ रही हैं। रमजानी खिड़की से नीचे की ओर देखने लगी। न जाने क्या देख कर हँसते-हंसते उसका बुरा हाल था। वह आई और बाँह पकड़ कर मुझे भी खिड़की के पास ले गई। बोली—

यह भी एक ही तरह का आदमी है। देख-देख क्या कर रहा है। मैंने देखा गली में खड़े एक बिजार (बैल) के गले में अपनी बाहें डाले एक आदमी बुड़बुड़ा रहा है—"हे नान्दी ! तू भी स्नेह वंचित ! मैं भी स्नेह वंचित !"

तभी मैंने देखा वेश्याओं का एजेन्ट गया और उसे उस बैल से छुड़ा कर ऊपर लाने लगा।

थोड़ी ही देर में देखा उस एजेन्ट ने लाकर मेरे कमरे में उसे खड़ा कर

दिया है। वह रमजानी मेरे कान में बोली—'अरे ! थोड़ी देर बैठेगा। बैठने दे। नशे में है जो चाहे झपट ले। हाँ बेटी! इसे एक आदत है। तेरे नाखूनों का मैल माँगेगा। न जाने उसका क्या करता है। तू दे देना। झक्की है ! अच्छा अब मैं चली। तू इसे सँभाल।" कहते-कहते वह चली गई।

मेरे कानों में गर्म-गर्म साँसें छोड़ती वह सब कुछ कह गई थी पर मैं एक टक उस आदमी की ओर देखे जा रही थी। समझ नहीं पा रही थी कि वह आदमी यहाँ चकले में कैसे आ गया। मैंने कभी रवीन्द्रनाथ टैगोर को नहीं देखा था। बस उनका फोटो देखा था। इस आदमी को देख कर लगा जैसे टैगोर ही मेरे द्वार पर आ खड़े हुए हैं।

वह नीचे बिछे गद्दे पर बैठ गया। बोला—"सुन्दरी ! यह द्वार तो बन्द कर लो।"

मैंने बढ़ कर द्वार की साँकल लगा दी। तब बोला—"आओ ! आओ !! तुम कब आई ? मैंने सब चेहरे देखे हैं। पत्थर हैं पत्थर ! एक भी पुतली में स्नेह नहीं। सुन्दरी ! मुझे स्नेह चाहिए। स्नेह ! ऐसा स्नेह कि मैं उसमें डूब जाऊं। दुनिया शराब में डूब कर लिखती है। मैं चाहता हूँ स्नेह में सराबोर होकर लिखूं।" कहते-कहते वह उठा और मेरा हाथ पकड़ कर अपने पास बिठा लिया।

बड़ी देर तक न जाने क्या मेरे चेहरे पर देखता रहा। मैं चुपचाप बैठी थी। तभी यह जानने के लिए कि उसके चेहरे पर क्या है, मैंने एक बार उड़ती नजर से उसकी ओर देखा।

उसकी आँखें छलछला आई थीं। उसने गीले स्वर में कहा—"भगवान् ! ऐसा रूप-ऐसा··· ऐसा दिल देकर इन्हें यहाँ क्यों भेज दिया और मुझे दी है बाघनी ! कि देखते प्राण काँपते हैं। कहती है—तुम वेश्या के यहाँ क्यों जाते हो ? अरे वेश्या स्नेह नहीं दे पाती लेकिन काटने को तो नहीं दौड़ती।

सुनो ! मैं अपनी औरत की बात कहता हूं। बड़ी जालिम है। मेरी

किताबों की रायल्टी पर सदा आँख रखती है। उसे डर है कि इकट्ठा रुपया मिला तो मैं वेश्या और मदिरा में बहा दूंगा। पर मैं क्या करूँ? तुम्हीं बताओ बिना स्नेह के कोई जी पाता है?"

कहते-कहते शराब के नशे में बड़े तकिए के सहारे लुढ़क गया। यह सब उसी नशे में रुकते-रुकते कहे जा रहा था। कोशिश कर रहा था कि उठ कर बैठ जाए पर उठ नहीं पाता था। वहीं पड़े-पड़े उसने अपनी बाहें फैलाई जैसे किसी को पकड़ रहा हो। कुछ समेट कर अपनी ओर खींच रहा हो।

उसी तरह हाथ फैलाते-सिकोड़ते बोला—"अरे! इस धरती पर एक भी ऐसी न मिली जो मुझे खींच कर अपनी बाहों में भर लेती। वाहरे विधाता! तुमने भी मेरे साथ कैसा खेल खेला है।

बाहें फैलाते-फैलाते वह फिर बेहोश-सा हो गया। थोड़ी देर ज्यों का त्यों पड़ा रहा फिर हाथ हिले। जेब में से रुपयों की गड्डियाँ निकाल कर बाहर रख दीं। मेरी ओर देखता-देखता बोला—

"सुन्दरी! जानता हूँ स्नेह कहीं बिकता नहीं पर ...... मैं क्या करूँ? मैं इसके बिना जी नहीं पाता। लो यह लो और एक बार मुझे अपनी बाहों में भर लो। एक बार उस मधु-प्याली को चख लेने दो जिसके बिना आज तक तड़पता आया हूँ। आओ! सुन्दरी आओ! लो यह सब ले लो। जानता हूँ घर में कदम रखते ही क्या होगा पर नहीं–जो हो सो हो—आज तुम्हारे समीप मैं भिखारी हूँ सुन्दरी! वह सब दे दो जो आज तक नहीं मिला है। देखो..........।"

तभी किसी ने कुंडा खटखटाया। मेरे कानों में वही रमजानी की आवाज आई। कह रही थी—"कुंडा खोलना बेटी!"

मैंने कुंडा खोल दिया। आगे बढ़कर धीरे से कान में बोली—'वह कलवाला सेठ आ गया है। इस मुए को मैं लिए जाती हूँ।" कहते-कहते वह आगे बढ़ी और उस अभागे के रुपयों की गड्डियाँ उठाती, उसे धकियाती कमरे से बाहर ले गई। वह कहे जा रहा था—"वाहरे

भगवान् ! जब प्याला ओठों तक आया तो बीच ही में छलका दिया। वाह ! कैसे दुर्भाग्य की रेखा खींची है मेरे माथे पर।" और जाने क्या-क्या टूटती आवाज में रुक-रुक कर कहे जा रहा था और रमजानी उसे धकियाती सीढ़ियों की ओर लिए जा रही थी। तभी वह एजेन्ट आया और धक्के लगाता उसे सीढ़ियाँ उतारता वहाँ से ले गया।

जैसे-जैसे सीढ़ियाँ उतारता वह नीचे की ओर लिए जा रहा था। वैसे-वैसे ही उस कवि के कंठ की आवाज बढ़ती जा रही थी। वह जोर-जोर से कुछ न कुछ कहे जा रहा था।

मैंने देखा वह सेठ मेरे कमरे में आकर खड़ा हो गया है। कुछ देर खड़ा मुझे देखता रहा फिर साँकल बन्द करके बिछौने पर बैठ गया।

बड़ी देर तक कमरे में सन्नाटा रहा फिर बोला—"खड़ी क्यों हैं ? बैठ जाइए।"

मैं उसी बिछौने पर जो नीचे जमीन पर बिछा था, एक कोने पर बैठ गई। उसने उठकर एक बड़ा मसनद मेरी पीठ के पास रख दिया और बोला—"आराम से बैठिए।"

मैंने कहा—"ठीक है।"

कुछ देर चुप बैठा मेरी ओर देखता रहा। मैंने उसकी ओर नहीं देखा। तभी कानों में आवाज़ आई —"एक बात पूछूँ ?"

"पूछिए।"

"आप यहाँ क्यों आई ?"

"अपने किसी पूर्वजन्म के पाप को लेकर।"

"नहीं, आपने कभी पाप नहीं किया होगा। न इस जन्म में, न किसी पूर्व जन्म में।"

"तो फिर यहाँ क्यों आती ?"

'वही तो मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। कल जब आया और देखा तो मुझे लगा जैसे किसी ने ठोकर मार कर जगा दिया है। कितने सालों से

कैसे-कैसे सपने देखता चला आ रहा था। कभी औरत को औरत ही नहीं समझा। सामने आई। लिया और चल दिया। पर उसके अन्दर देखने का भी मन नहीं हुआ। हर औरत मेरे लिए धोखा थी। मेरी अपनी औरत भी धोखा थी और बाद में जो मिली सो सच होकर भी धोखा हो गई।"

"आपकी अपनी औरत है ?"

"हाँ, थी, अब नहीं है ?"

"क्या हुआ ?"

"चली गई !"

"कहाँ ?"

"कोठी के पहरेदार को लेकर।"

"क्यों ?"

"मुझमें जो नहीं था सो उसे उसमें नजर आया होगा। सच कहता हूँ मैंने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि मैं यहाँ आऊँगा।"

'फिर क्यों आए ?"

"जब वह चली गई तो कोठी की एक दासी ने जो कुछ मुझे बताया सो सुन कर मैं पागल हो गया।"

"क्या बताया था ?"

"मेरी औरत चौकीदार को जब अन्दर बुलाती और जिस कमरे में वे लोग रास-रंग रचते सो वह सब दासी देखती-सुनती रहती थी।"

"उसने आपको पहले क्यों नहीं बताया ?"

"वह दासी है। उसे रुपया चाहिए सो इस बात को छिपाने के लिए जितना चाहती होगी, मिल जाता होगा। शायद इस लिए भी कि उसे घर से बाहर निकालने में उसका भी अपना एक स्वार्थ था।"

"स्वार्थ ? उसका क्या स्वार्थ था ?"

"वह चाहती थी कि उसे बाहर करके वह मुझ पर—मेरी सारी सम्पत्ति पर अधिकार कर ले।" कहते-कहते वह चुप हो गया। फिर

बोला—"एक दिन ऐसा जाड़ा पड़ रहा था कि कम्बलर जाई से बाहर हाथ तक नहीं निकाला जा रहा था। रह-रह कर पानी बरस उठता था। सिसकारती हवा चल रही थी।"

मैं अपने कमरे में लेटा था। रात के ग्यारह बजे होंगे। सब दास-दासी काम-काज करके चले गए थे। कोठो के द्वार पर नया चौकीदार बैठा था। उसके उठने-बैठने की आवाज कभी-कभी मेरे कानों में आ जाती थी। बड़े द्वार से मेरे कमरे तक सिर्फ दो छोटे कमरे थे।

मैंने अपने कमरे की बत्ती बुझा दी। कैसे भी सो जाने की कोशिश कर रहा था। तभी मैंने देखा एक काली छाया सी मेरे कमरे के द्वार पर आई और खड़ी हो गई। फिर जैसे ही उसने कमरे में कदम रक्खा कि मैंने पहचान लिया। वह वही दासी थी। उसने कमरे की सांकल अन्दर से बन्द करली। मैं सांस बन्द किये पड़ा था।

उस रात तक अपनी औरत को छोड़ मैंने न किसी की ओर आंख उठाई थी और न किसी को छुआ था।

वह आई और मेरे बिछौने के पास धरती पर बैठ गई। बड़ी देर तक बैठी-बैठी दबी उसांसे छोड़ती रही।

फिर दबे स्वर में बोली—"मालिक !"

"..... ...."

"मालिक ! सो गए ?"

"नहीं !"

"सुनो !"

"क्या है ?"

"पैर दबा दूं ?"

उसकी आवाज में, उसके ढंग में न जाने क्या था। सच, वह अपनी रात मैं कभी नहीं भूल पाती। उस रात मुझे लगा था जैसे उसके छूने में—उसकी दबी आवाज में जो था सो धरती पर उस क्षण तक मैंने कभी नहीं जाना था।

उस एक रात में ऐसा पागलपन छाया कि उसके बाद कई दिनों तक तो ऐसा हुआ कि सारा काम-काज बन्द करके मैं उसी दासी में डूब गया। मिलों का इन्तजाम मैनेजर करते—गद्दियों पर मुनीम और मैं उस दासी को लेकर कोठी में रहता था।

तब की ही बात मैं कह रहा हूँ कि वह दासी एक साल से मेरी कोठी में थी। दिन में—महीने में—दसियों बार उसे देखा था पर कभी वह नहीं देख पाया—नहीं जान पाया जो उन दिनों देख पाता था। तब लगा यह रूप जो हमारी बाहरी आँखें देखती हैं सो सब झूठा है। उस बाहरी रूप का पर्त जब मिटता है और अन्दर से कुछ दीख जाता है तब लगता है जैसे बाहर का सब कुछ बदल गया है। तब अचरज होता है कि जो अब तक देखता आ रहा था सो गया कहाँ ? और यह नया कहाँ से आ गया ?

एक दिन ऐसा हुआ कि जो अन्दर दिखा था सो एक ही क्षण में सब मिट गया। न अन्दर कुछ रहा और न बाहर। उस क्षण लगा था कि सब ओर सिर्फ एक ही बात है—"धोखा।"

"क्यों ?"

एक रात जब वह मेरे कमरे से बाहर निकली तब रात के चार बजे होंगे। मैं खिड़की से बाहर डूबते चाँद को देख रहा था। मैंने सुना था कि कवि-कलाकार चाँद में—उगते-डूबते सूरज में न जाने क्या-क्या देखा करते हैं। तब उनकी बातें पढ़-पढ़ कर मैं हँसा करता था पर उस दासी रामपाली के साथ रह कर मैंने जाना था कि उगते-डूबते चाँद और सूरज में क्या छिपा है। तब मुझे एक ही चेहरा दिखता था और वह था रामपाली का, उगते-डूबते चाँद सितारों में ! सब ओर-सब ठौर !!

जब थोड़ा-सा मुस्कराती तो लगता था जैसे मेरा सारा शरीर झनझना गया है। जब बनावटी क्रोध दिखा कर मेरी ओर देखती तो लगता कि उस रूप को देख कर अब कुछ भी देखने को शेष नहीं रहा है। उसी का ऐसा रूप भी देखा कि मन चाहा उसके शरीर को नोंच-नोंच

कर उस चीज को पा लूं जो एक क्षण में उसी के शरीर में कहीं सहसा अलोप हो गई थी।

"बात क्या हुई थी ?"

"उस रात जब वह उठ कर गई तो मैंने सुना कि बाहर किसी से हौले-हौले बात-चीत कर रही है। मैं उठ कर खिड़की के पास आ कर खड़ा हो गया। वह जो कुछ कह-सुन रही थी सो सब मेरे कानों तक साफ-साफ आ रहा था।

असल में वह नया चौकीदार उसका अपना पति था और उन दोनों ने मिल कर मेरी सम्पत्ति हड़पने के लिए सारा षड्यंत्र रचा था। उन दोनों ने मिल कर ही मेरी पत्नी को उस चौकीदार के साथ भगाया था। अब वे दोनों मिल कर यही बात कर रहे थे कि कैसे दूध में डाल कर मुझे जहर दिया जाए और जो रुपया-पैसा, गहना मैं रामपाली को धीरे-धीरे देता था सो सब एकसाथ ही उन लोगों के पास पहुँच जाए। उनकी बातों से पता चला कि वह चौकीदार और मेरी पत्नी इसी शहर में मेरी कोठी के पास ही कहीं रह रहे हैं। जहर मिलाने का अपराध मेरी पत्नी के माथे मढ़ा जाए और रुपया-पैसा लेकर वे दोनों सारी जिन्दगी मौज उड़ाएँ।

सच कहता हूँ मुझे रामपाली पर जरा भी गुस्सा न आया। उसी क्षण मुझे लगा कि इस धरती पर सब धोखा है। सचाई कहीं कुछ नहीं है। अगर सच है तो सिर्फ एक बात, एक चीज और वह है—रुपया।

जैसे सब कुछ स्नेह, प्यार, मुहब्बत, भाईचारा, धर्म, कर्म, स्वर्ग, नरक सब इसी रुपये के चारों ओर घूम रहे हैं।

मैं उठा और कमरे से बाहर निकला। रामपाली दौड़ती मेरे पास आई। घबराती-सी बोली—""क्या हुआ मालिक ? क्या चाहिए ?"

"तुम।"

"मैं तो सदा तुम्हारे पास ही रहती हूँ। आओ।"

"चलो।"

हम दोनों कमरे में आ गए। मैंने कहा—"रामपाली बत्ती जला दो।"

सुन कर चौंकती बोली—"हायराम! उजाले में?"

"अंधेरे में मैं सिर्फ सुन पाता हूँ। महसूस करता हूँ। रामपाली! आज मैं देखना भी चाहता हूँ।"

मेरी कमर में अपनी पतली बाहों की गुम्फी डाल कर बोली—"मालिक क्या देखोगे?"

"जो कभी किसी ने न देखा हो।"

"देख कर क्या करोगे? बिन देखे कुछ नहीं देख पाते।"

"नहीं रामपाली! जाओ बत्ती जला दो।"

रामपाली ने बत्ती जला दी और आकर सदा की तरह मेरी गोदी में सिर रख कर लेट गई।

मैं उसके चेहरे पर उसकी पुतलियों में एक ही बात खोज रहा था कि सच क्या है? जो इसके चेहरे पर देख रहा हूँ वह, कि मेरे कानों ने जो सुना था सो सब पर कुछ भी समझ नहीं पा रहा था।

तभी वह बोली—"मालिक!"

"हाँ! रामपाली।"

"आज मुझे ऐसे क्यों देख रहे हो?"

"रामपाली! मैं सचाई खोज रहा हूँ।"

सुन कर वह मुस्कराई। मुस्कराते-मुस्कराते ही बोली—"मालिक! आज समझ पाए कि सचाई अंधेरे में नहीं मिलती। इसीलिए बत्ती जलाई है?"

"हाँ रामपाली! आज जानना चाहता हूँ कि तुम्हारे इस जादू में सचाई कितनी है?"

"मालिक! जब पता चल जाए कि वह जादू है तब जादू कहाँ रहता है? तब तो फिर तमाशा बन के रह जाता है।" कहते-कहते वह मेरी गोदी से सिर उठाने लगी।

मैंने उसके सिर को जहाँ का तहाँ रख कर कहा—"क्यों, कहाँ जा रही हो ?"

बोली—'जब जादू रहा ही नही तब तमाशा दिखा कर क्या करूँगी ?" कहते-कहते रुआँसी हो आई।

"तुम जान गई कि अब सिर्फ तमाशा रह गया है ?"

"मालिक ! हम औरतों को तुम्हारे शास्त्र ने मूरख कहा है। मैं खुद कहती हूँ कि हम मूरख ही नहीं हैं अभागी भी हैं मालिक।"

कहते-कहते उसका गला रुक आया। तब रुँधे कंठ से बोली—"कितनी ही मूरख हैं पर मालिक इतना न जाने कैसे जान लेती हैं कि हमारा कब किस पर जादू चल गया है और उस पल को भी पहचानते देर नहीं लगती। जब उस पर से हमारा जादू उतर जाता है।"

"तुमने जान लिया ?"

"हाँ ! और यह भी कि आज के बाद वह मुझे कभी नहीं मिलेगा जिसे पाकर मैं निहाल हो गई थी।"

कहते-कहते उसकी आँखों में आँसू डबडबा आए। साड़ी के छोर से आँसू पोंछती बोली—"मालिक ! जादू तो गया ही अब न जाने कितने जन्मों तक इस पाप का फल भी भुगतना पड़ेगा।"

"पाप ? कौन-सा पाप ?"

"यही जो इतने दिनों से करती आ रही हूँ।"

"मेरे साथ ?"

"नहीं अपने साथ। काया से नहीं मन से।"

"मन से ?"

"हाँ मालिक ! धीरे बोलिए कोई सुन लेगा।"

"सुन लेगा ? कौन सुन लेगा ?"

"जो पहरे पर बैठा है।"

"सुन ले तो सुन ले। वह दास है। क्या करेगा ?"

"मेरा तो करेगा।"

"क्या करेगा ?"

सुन कर वह चुप रही। फिर मेरी ओर डबडबाई आँखों से देखती बोली—"मालिक ! अगर रामपाली मर जाए तो तुम्हें बुरा लगेगा ?"

उस क्षण तक सदा वह मुझे आप ही कहती आई थी जब तुम कह कर बोली तो उसके चेहरे पर ऐसी आभा बिखर गई कि थोड़ी देर पहले चौकीदार से मिल कर जो षड्यंत्र कर रही थी सो सब मैं भूल गया।

उसने अपनी गोरी बाहें उठा कर मेरे गले में उलझा लीं और बोली—"मालिक ! मेरे मरने पर अगर कोई कहे रामपाली बुरी थी। उसका प्यार धोखा था। तो मालिक तुम कभी मत मानना। बस मेरी इतनी-सी बात कभी न भूलना। अब मुझे कुछ नहीं चाहिए।"

"मैं तो कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ। यह तुम क्या कह रही हो ?"

"कह रही हूँ यह कि अब तुम्हारी रामपाली जिन्दा नहीं रह सकती।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि जिसे प्यार करती हूँ उसे धोखा नहीं दे सकती मालिक ! बस इतनी-सी बात है।"

कह कर वह एकदम चुप रही फिर काँपते कंठ से बोली—"मालिक ! लोग कहते हैं कि जिन औरतों का चाल-चलन अच्छा नहीं होता वे किसी को प्यार नहीं करतीं। दगाबाज होती हैं। लेकिन उन्हें कौन बताए कि वे क्या लेकर दगा देती हैं ? क्यों धोखा देती हैं ? उनके मन की बात कोई नहीं जानता। अरे किसी को जहर मिला कर जब मार डालती हैं तब उसके बाद जब उसकी लाश पर सिर पटक-पटक सिसकती हैं सो किस ने देखा है ? मालिक हम औरतों की लाचारी कोई नहीं जानता। तुम लोग या तो हमारा जादू जानते हो या हमारी नफरत। उस जादू और नफरत में हमारी लाचारी कहाँ है उस तक तुम लोगों की कभी निगाह नहीं पहुंचती।

सच मालिक ! हमारे हँसने में जो रोने की आवाजें आती रहती हैं और रोने में जो हँसी छिपी रहती है उसे एक बार जान पाओ तो हम लोगों का सारा क्लेश मिट जाए ।"

मैं बोला—"तुम बताती क्यों नहीं ?"

सुन कर वह उदासी-भरी हँसी हँस कर बोली—"बताने को तो मेरा मन भी करता है पर लगता है भगवान ने हमें जब बना कर धरती पर भेजा था तब एक वायदा करा लिया था ।"

"क्या ?"

"कि सहते-सहते मर जाना पर कभी अपने मन की बात मत बताना । हमारी यही आदत कभी किसी पर जादू बन कर छा जाती है और किसी के लिए नफरत बन जाती है । मालिक ! हमारे इस दिल में दिन-रात जो धुक-पुक होती है सो तो कोई नहीं जानता । जानने की जरूरत ही नहीं समझता ।" कहते-कहते उसने अपना चेहरा मेरी गोदी में छिपा लिया ।

तब मैंने देखा कि मारे रुलाई के उसकी पीठ बार-बार ऊपर की ओर उठ जाती है । मैंने उसे सीधा किया और उसका सिर अपनी हथेलियों में लेकर पूछा—"रामपाली ! क्या है ? तुम बताती क्यों नहीं ?"

सुन कर बड़ी देर तक मेरी आँखों में न जाने क्या देखती रही । फिर बोली—"क्या करोगे जान कर ? चाहती हूँ तुम कभी न जानो ।'

कह कर चुपचाप खिड़की से बाहर आकाश की ओर देखने लगी । उस ओर देखती-देखती बोली—"मालिक ! सब मर कर कहाँ जाते हैं ?"

"पता नहीं ।"

"मैं जानती हूँ । मरने पर काया यहीं पड़ी रहती है और जमदूत उसे यम-देवता के पास ले जाते हैं । हमारी धर्म-गुरुआनी कहा करती थीं—'चाहे कितने ही पाप किसी ने किए हों पर एक बार अगर उसने सच्चे मन से किसी को प्यार कर लिया तो सब पाप मिट जाते हैं ।

फिर उसे स्वर्ग मिलता है।' इसीलिए कहती हूं मालिक! मुझे अब मरने का भय नहीं है। पर मैं अपने प्यार को झूठा नहीं करूंगी! नहीं करूंगी! मालिक नहीं............।"

कहते-कहते वह पागलों की तरह मेरी गोदी से उठी और भागती चली गई। मैं घबराया-सा उसके पीछे दौड़ा। जैसे बंद मुट्ठी में से निकली चिड़िया के पीछे दौड़ रहा था। बाहर आकर मैंने देखा कि वह चौकीदार भी उसके पीछे दौड़ रहा है। थोड़ी देर में वे दोनों उस गली में से मुड़ कर दूसरी गली में चले गए।

सारा दिन, सारी रात बीत गई पर वे दोनों नहीं लौटे। दूसरे दिन अखबार में मोटे अक्षरों में छपी एक खबर पढ़ी—"अपनी विवाहिता पत्नी को मार कर हत्यारा भाग गया। पुलिस खोज कर रही है। मृतक युवती का नाम रामैपाली है और हत्यारे को मुहल्ले वाले खूबराम के नाम से जानते थे।"

अखबार में वह खबर पढ़ कर बड़ी देर तक मैं स्तब्ध-सा बैठा रहा। मुझे लगा जैसे सोचने-समझने की जो मशीन हमारे शरीर में काम करती है सो अचानक रुक गई है। मैं चुपचाप मुर्दे की तरह जहाँ का तहाँ बैठा रहा। फिर लगा कि धीरे-धीरे वह मशीन अंदर ही अंदर चलने लगी है।

तब एक ही बात उस चलती मशीन में से मुझे सुनाई पड़ने लगी——"हत्यारा उसका पति नहीं है। हत्या उसने अपने आप की है। हत्या की है अपने प्यार को लेकर! वह जान दे गई और प्यार ले गई। अभागी साथ ले गई है एक भरोसा भी कि उसी प्यार को लेकर वह नरक की पीप भरी नदी पार करके किसी स्वर्ग में जा बैठेगी।"

कह कर वह सेठ चुप हो गया। अपना दुःख सुनाते-सुनाते उसके चेहरे पर दुःख-पीड़ा की ऐसी कमनीयता छा गई थी जो मनुष्य के चेहरे पर बहुत कम देखी जाती है।

फिर बोला—"उसके बाद मुझे लगता था कि रामपाली जो मुझे

दे गई है सो उसके बिना मैं कैसे भी जी नहीं सकता और मरना चाहता नहीं था। बस ! उसी की खोज में मैं इन चकलों में छिप-छिप कर चक्कर काटने लगा। आता था—चेहरों में वही खोजता था और जब नहीं मिलता था तो चला जाता था। सदा एक ही आशा मन में लगी रहती थी कि उस रात जैसे अचानक पा गया था सो क्या कभी वैसा क्षण मेरे जीवन में फिर नहीं लौटेगा ?"

मैं उसी की बात सुने जा रही थी। कभी उसकी बात आगे बढ़ाने के लिए कुछ कह-सुन बैठती थी। इस लिए भी कि जब तक वह अपने में उलझा रहेगा तब तक मैं बची रहूँगी।

मेरा मन अन्दर ही अन्दर कितना ही समझाता था कि काया फेंक दे और जीती रह अपने मन को लेकर। मन का संस्कार और वह सँजो कर जो कितनी बार आनासागर के किनारे उन महात्मा से पाया है पर जब भी उस काया को खरीदने कोई आता तो अन्दर ही अन्दर धक्-धक् होने लगती थी।

तभी कानों ने सुना। वह बोला—"कल जब आपको यहाँ चकले में भजन गाते सुना तो लगा जैसे जिस आग में दिन-रात जलता रहता था सो उस पर अचानक सावन भादों की घनघटा छाकर बरस पड़ी है। जब आपने मेरी ओर देखा तो लगा—एक क्षण में अन्दर उफनती रोम-रोम की पीड़ा, जलन-तपन सब मिट गई है।

तब से एक पल के लिए मेरी आँख नहीं झपकी है। गद्दी पर गया पर वह पावन दृष्टि नहीं भूल पाता जो कल मैंने देखी थी और आज आकर जब देखा तो लगा जैसे उसमें पवित्रता ही नहीं है किसी के लिए ममता भी कम नहीं है। जब अपने दुख की बात सुना रहा था तो सच कहता हूँ—सच कहता हूँ मेरा मन हुआ कि...... कि........आपके इन........।"

कहते-कहते वह चुप हो गया। फिर जेब से रुपयों की एक बड़ी गड्डी निकाल कर उसने अपने हाथ बढ़ाए और उस गड्डी को मेरे पैरों पर रख दिया। सब हजार-हजार के नोट थे।

मैं बोली—"इसका क्या होगा । ?"

"मैं आपको नही दे रहा हूँ । चाहता हूँ । इस मन्दिर में आज से किसी मैले आदमी के मैले पैर नहीं पड़ें बस ! मैंने रमजानी से बात कर ली है ।"

कहते-कहते वह उठ कर खड़ा हो गया फिर एक बार मेरी ओर देखा ओर चुपचाप बिना कुछ कहे वहाँ से चला गया ।

१८

दिन का तीसरा पहर था । बिछौने पर लेटे-लेटे नींद आ गई थी । उस जरा-सी झपकी में मैंने महात्मा को देखा था । वे पास ही खड़े मुस्करा रहे थे । मैंने कुछ कहने की कोशिश की तो चुप रहने का संकेत किया फिर अपने आप ही बोले—"देवी ! जो है सो स्वीकार लो । सब नियम में बंधा है । अनियम कहीं नहीं है । आनन्द विश्वास में है । विश्वास गया कि मन की शांति मिटी । यही याद दिलाने आया था । जा रहा हूँ ।" कहते-कहते वे चले गए । उनका एक-एक शब्द लेटे-लेटे दुहराती रही । तब याद आया कि सोने से पहले रामपाली को लेकर ही उस पर अविश्वास किया था । सोने से पहले यही कि सोचती रही सब के प्यार इसी तरह मिट जाते हैं ? क्यों इस धरती पर हमारा प्यार छीन कर इस तरह भटकाया जाता है ?

इतने दिनों बाद महात्मा ने दर्शन दिए थे। सो लग रहा था जैसे वे कहीं गए नहीं हैं सदा-सर्वदा मेरे समीप ही रहते हैं। उस दिन लगा था जैसे वे ही हैं जो मुझे हर पल, हर क्षण बचाए जा रहे हैं। नहीं तो इस चकले में आकर कौन बच पाया होगा। क्या वे ही नहीं है जिन्होंने इस सेठ को मेरे समीप भेज दिया है ! जिसने ढेर सारे रुपए देकर सब आफतों से बचाने का विश्वास दिलाया है।

इसी तरह न जाने क्या-क्या सोचे जा रही थी। तभी किसी ने बाहर से कुंडा खटखटाया। मैंने कुंडा खोल दिया। देखा मिन्नी बाहर खड़ी है।

इन दिनों वह कई बार मेरे पास आती थी पर कुछ न कुछ ऐसी बात होती थी कि उससे बात ही न हो पाई।

जब से यहाँ आई हूँ तब से यही जानने के लिए बेचैन थी कि यहाँ आकर उस पर क्या बीती। कैसे जिए जा रही है। मन की ऐसी भोली मिन्नी ने यह सब कैसे सहा होगा।

मिन्नी ने अन्दर से किवाड़ बन्द कर लिए बिछौने पर धम्म से बैठ कर बोली—"जीजी ! यह क्या सच है ?"

"क्या ?"

"यहाँ सब कहते हैं कि तुम्हें भूतों को बुलाना आता है।"

"भूत ? कैसे भूत ?"

"अरे वही जिनके पैर उल्टे होते हैं ! जो कभी दिखते हैं, कभी नहीं दिखते हैं ! जो कभी-कभी ले जाकर नदी तालाब में डुबो देते हैं। पहाड़ों से पटक देते हैं।"

"भूत-प्रेत।"

"हाँ, जीजी वही भूत चुड़ैल।"

"मैं भूत-प्रेत पालती हूँ। यह तुझसे किसने कहा ?"

"जीजी ! सब कहते हैं ! कइयों ने तो अपनी आँखों से देखा है।"

"क्या देखा है ?"

एक कह रही थी कि एक आदमी कल आया था। आधी रात

होगी। तुम्हारे कमरे से वह सेठ चला गया था। हाँ, जीजी तुमसे कृष्णा बड़ी जलती है। वही जो कोने पर रहती है। साल भर से यहाँ है। लाहौर से आई है। जब से तुम आई हो तब से मुटल्ली ने उसकी ओर से ध्यान हटा लिया है। मुटल्ली तो बस दिन रात तुम्हारे जादू का गुण गाए जा रही है। कहती है—एक रात में हजारों कमाती है! तीन दिन में ही सेठ ने रखैल भी रख लिया। ऐसी तो कभी इस चकले में न आई न आए। बस इसी बात को लेकर कृष्णा जल मरी। अरे जीजी! उसका बस चले तो वह तो तुम्हें जान से मार दे। बड़ी बुरी औरत है।

"तो मैं क्या करूँ?"

"तुम तो कुछ मत करो। पर मुझे तो करना पड़ेगा।"

"क्या करोगी?"

"जीजी सच कहती हूँ उसने एक दिन एक लड़की से जल-भुन कर उसे ऐसा पीटा, ऐसा पीटा कि मारते-मारते बुरा हाल कर दिया।"

"मुटल्ली ने कुछ नहीं कहा?"

"उससे कौन—क्या कह सकता है।"

"क्यों?"

"वह काली टोपी वाला भेड़िया है न? वह उसकी बहुत मानता है। चाहे कुछ करे वह कुछ नहीं कहता। जब कोई ग्राहक नहीं आता तो वही भेड़िया उसके कमरे में सोता है। यही तो............।"

बीच ही में मैंने कहा—'पर मिन्नी! यह सब खबरें तू मुझे क्यों सुनाए जा रही है। मुझे इन बातों से क्या लेना देना है।"

"जीजी! आप समझती तो हैं नहीं। वह किसी दिन आकर तुम पर टूट पड़ी तो...........।"

"तो टूट पड़े।"

"मैं कहती हूँ वह भूतों से डर गई है नहीं तो अभी तक उसने न जाने क्या किया होता। कल जब वह सेठ चला तो उसने एक आदमी को तुम्हारे कमरे में आने के लिए भेजा था। उसे पहले खूब शराब

पिलाई फिर बोली—"यह भगतिन नई आई है। गजल नहीं गाती। भजन गाती है। जरा जाकर इसकी भगती तो निकाल आ।"

मैं और मेरी सहेली वहीं खड़े-खड़े सुन रहे थे। जब उसे किसी को तंग करना होता है तो यह उसी आदमी को बुला कर शराब पिलाती है और भेज देती है। बस जीजी जिसके पास यह आदमी गया तो ऐसा हाल कर देता है कि आठ-दस दिन तक बिछौने से नहीं उठा जाता। इसी लिए हम कृष्णा का नाम सुनते ही थर-थर काँपती रहती हैं। पर कल से वही अपने आप मरी जा रही है।

"मरी जा रही है ? क्यों ?"

"तुम्हें कुछ पता ही नहीं। सारे चकले में शोर मचा है ?"

"क्या शोर मचा है ?"

"सब लड़कियाँ, औरतें घुस-पुस कर रही हैं ! बात यह हुई कि जब शराब पीकर वह आदमी तुम्हारे कमरे की ओर आने लगा तो कृष्णा उससे बोली—"उस्ताद ! ऐसा करना कि महीनों तक चल-फिर भी न पाए।"

तब वह हिचकी लेकर बोला था—"अरे कृष्णा ! देखना उसकी भगती कैसी झाड़ता हूं ! तुमसे मुकाबला करती है।"

कहते-कहते वह इधर आया। जैसे ही तुम्हारे द्वार के सामने खड़ा हुआ कि एक दम लौट कर भागा, भागते-भागते कृष्णा के कमरे में आया और हाँफता-फाँफता बोला—"मार डाला रे ! वहाँ तो एक साधू खड़ा है। उसकी आँखों से ऐसी आग की लपटें निकल रही हैं कि जरा-सी देर हो जाती तो जला कर राख कर देता।"

यह बात सारे चकले में फैल गई। सब कहती हैं जीजी या तो तुम कोई देवी का अवतार हो या तुमने भूत पाल रक्खे है।

सुन कर मैं सब समझ गई। मैंने आँखें मूंद लीं। न जाने क्यों मिन्नी की वह बात सुन कर मेरे अंदर एक तरह का हाहाकार-सा मच गया। एक ही बात रह-रह कर मन में उमड़ने लगी कि जिसको लेकर मैंने मन

में कैसी-कैसी रस-भरी कल्पनाएँ की थीं। उन्हें लेकर कैसे-कैसे पाप मन में बसाए थे सो सब क्षमा करके वे दिन-रात मेरे द्वार पर खड़े रहते हैं।

बस यही सोच-सोच कर न जाने क्यों मेरे अंदर कैसे-कैसे सुख-दुख के पारावार लहरा उठे कि मन-चाहा कि अगर रो-रोकर इन पुतलियों की राह उसे बाहर न निकाला तो मैं मर जाऊँगी। मुझे पता ही न चला और पलकों का बाँध तोड़ कर मन का वह पारावार बह निकला।

मेरी आँखें बंद थीं और आँसू बहे जा रहे थे। तभी मैंने आँखें खोलीं। देखा मिन्नी सामने बैठी एकटक मुझे देखे जा रही है।

मारे भय और आशंका के उसका चेहरा सफेद पड़ गया था। जैसे ही मेरी खुली आँखें देखीं तो बोली—"जीजी ! मुझ से कुछ गलती हो गई ? तुम रो क्यों रही हो ?"

मैंने धीमे स्वर में कहा—"पगली ! भूत-प्रेत नहीं वही आश्रम वाले महात्मा थे।"

"महात्मा !"

सुनते ही बोली—"जीजी ! मैं तो पहले ही जानती थी। उस दिन मैंने कहा नहीं था कि वे महात्मा मसान जगाना जानते हैं।"

तब मन की उस अवस्था में भी उस पगली की वह बात सुन कर मैं हँस पड़ी। कितने समय बाद आज हँसी थी। मैंने उसे अपनी ओर खींच कर उसके गाल थपथपा कर कहा—"मिन्नी ! वे सिद्ध महात्मा हैं ! जहाँ चाहें जा सकते हैं ! भूत-प्रेत नहीं पालते।"

पर वह मेरी बात पर भरोसा नहीं कर पाई। बोली—"चाहे कुछ हो जीजी ! पर अब सब कहती हैं कि कृष्णा से डरने की जरूरत नहीं है। कुछ बात होगी तो सब तुम्हारे पास ही आया करेंगी।"

"मेरे पास ?"

"हाँ जीजी ! तुम्हारे पास।"

"क्यों ?"

"अरे जीजी ! यहाँ तो ऐसी आफत है कि दिन-रात अपने-अपने

प्राणों की पड़ी रहती है। ऐसे-ऐसे गुंडे आते हैं ! बड़े-बड़े छुरे और चाकू लाते हैं। चोरी-डाके का माल छिपा कर रखने के लिए कहते हैं। न छिपाओ तो सारा छुरा गर्दन में पार कर दें। रात-रात भर शराब पीते हैं। हमें भी पिलाते हैं और फिर ऐसी-ऐसी बातें करते हैं कि जानवर भी नहीं करते होंगे। मन आए तो हजारों के नोट फेंक जाएँ और मन न आए तो फिर जाते-जाते बिना बात के खूब मारते-पीटते हैं।

सब कहती हैं कि जब भी ऐसे लोग आएँगे तब तुम्हारे पास ही दौड़ी आएँगी।"

सुन कर मैंने काँपते कंठ से कहा—"मिन्नी ! मेरे पास क्या है ? सब उन्हीं की कृपा हैं। मैं क्या कर सकती हूँ।"

तभी किसी ने कुंडा खटखटाया। मिन्नी ने किवाड़ खोल दिए। सामने देखा चकले की कई लड़कियाँ बाहर खड़ी हैं। सब के चेहरे मारे आशंका के खिच गए थे।

मिन्नी ने उन्हें अंदर बुला लिया और किवाड़ बंद कर दिए।

मिन्नी बोली—"अरे घबराती क्यों हो ? यह तो मेरी जीजी है। इनसे भी कोई घबराता है ?"

सुन कर उन सब को पूरी साँस आई। कुछ देर वे मेरी ओर ताकती बैठी रहीं। फिर उनमें से एक बोली—"बहनजी ! यह बात सच है ?"

"क्या ?"

"तुम भूतों को [illegible] जा[illegible]"

"यह तुम से को[illegible]ह गया ?"

"मिन्नी ने कुछ नहीं बताया ?"

"बताया था। पर मैं भूत-प्रेत बुलाना नहीं जानती।"

"नहीं बहनजी ! आपको मेरा एक काम करना होगा। मैं फिर आकर बताऊँगी।"

इसी तरह वे लड़कियाँ न जाने क्या-क्या कहती-सुनती रहीं। पर मैं उन्हीं महात्मा को लेकर अपने में डूब गई थी।

तभी कुंडा फिर खटखटाया और इस बार मुटल्ली रमजानी सामने खड़ी थी। वह भी बड़ी सहमी हुई थी।

उसके वहाँ आते ही सब लड़कियाँ वहाँ से भाग गईं जैसे कबूतरियों में सहसा बिल्ली आ जाए। जब सब भाग गईं तो बोली—"बेटी ! सच बताना तुम जिनों को बुलाती हो ? बेटी ! मेरे मामा भी बुलाते थे। बैठे-बैठे मिठाइयाँ मंगा लेते थे। तुम ने ठीक किया। यह हरामजादी कृष्णा न जाने अपने को क्या समझती थी। मुझे तो बस गाजर-मूली समझने लगी थी। बेटी ! तुम ने उसी कुत्ते को पिटवाया। एक दिन इस कृष्णा की चोटी भी खिंचवाना। ऐसी औरत मैंने इस जमीन पर कहीं नहीं देखी। तुम जिन पालती हो और यह शहर के छटे गुंडे पालती है। बेटी ! मैंने इसे लाख समझाया कि तुझे गुँडों को मुंह लगाने से क्या फायदा। बस अपना काम निकालो। रुपये कमा। रुपये जमा हो जाएँ तो यहाँ से चली जाना। कहीं अपना मकान बनवा कर गिरस्ती बसा लेना। बेटी ! आजकल तो सब जात की औरतों से लोग शादी कर लेते हैं। अब कोई जात-पात, थोड़े ही पूछते हैं। बस मन को अच्छी लगी और कचहरी में जाकर शादी करवा ली।" कहते-कहते उदास हो गई।

फिर कुछ देर चुप रह कर बोली—"अरे ! मेरा मन क्या कम करता है ? पर बेटी ! अब मेरी ओर कौन देखेगा ? नहीं............अब ....।" कहते-कहते वह चुप हो गई।

१९

जब रमजानी उस दिन उठ कर चली गई तो उसी की एक बात रह-रह कर मन में उमड़ती रही। कह रही थी— "मेरा मन भी करता है कि कही ....पर मेरी ओर अब कौन देखेगा।" उसकी बात सुन कर मुझे लगा कि बस रमजानी की इसी बात के पीछे इस धरती की कितनी बड़ी सचाई छिपी है। यही है वह सत्य जिसको पा लेने के लिए दिन-रात हम सब दौड़े जा रहे हैं पर पा नहीं पाते। चाहे इसे मरीचिका कह लो चाहे प्राणों की प्यास। ऐसी प्यास है कि कैसे भी नहीं बुझती। पा जाओ तो पकड़ में नहीं आती और न पाओ तो पाने के लिए दिन-रात प्यासे मृग की भांति दौड़े जाओ।

उस दिन सांझ तक इसी प्राणों की प्यास को लेकर अंदर ही अंदर

मन मथती रही। फिर अपने आप उठी और स्नान करके कपड़े बदल कर अपने कमरे में आ बैठी।

उन क्षणों में भी मैं उसी प्राणों की प्यास को लेकर ही सोचे जा रही थी। लग रहा था कि मिन्नी बच्चे को लेकर भागी सिर्फ इसी प्यास को लेकर। बंगालिन लड़की कितनी बार माँ बन चुकी इसी प्यास को लेकर मैं............पर मैं तो ....नहीं प्यास वही है। क्या मेरी प्यास भी महात्मा ही नहीं हैं। रमजानी की भी अपनी प्यास है।

कुंडा खुला था। तभी एक आदमी नीचे के चौकीदार के साथ आया और मेरे कमरे का नम्बर पढ़ने लगा। नम्बर पढ़ कर बोला—"आप ही मायादेवी हैं ? सेठजी की तबियत ठीक नहीं है। आज वे नहीं आएँगे। यही कहने उन्होंने भेजा है।"

मैंने कहा—"ठीक है!"

वह चला गया और मैं निश्चिन्त हो अपनी दुनिया में खो गई। तभी सीढ़ियों पर किसी के पैरों की धड़-धड़ ने ध्यान तोड़ दिया। उस तूफानी लड़की का ख्याल आया। अनुमान मेरा ठीक था। वही बंगालिन सामने खड़ी थी और उसके साथ था वही राजकुमार।

वह बोला—"आप इन्हीं के पास बैठिए मैं थोड़ी देर में लौट आऊँगा। सेक्रेटरी से मिल कर सब तय कर आऊँ।"

वह चला गया और बंगालिन मेरे पास बिछौने पर बैठ गई। मैंने कहा—"कुंडी बंद कर लो। कहीं कोई शराब के नशे में आ धमका तो कमरे से निकालने में घंटों लग जाएँगे।"

रेखा ने किवाड़ बंद कर लिए। उस दिन मेरा जैसा मन हो रहा था उसमें मैं चाहती थी कि आज रेखा आ जाए। कैसे भी आ जाए। मन ही मन मैं उसे अच्छी लड़की नहीं समझती थी। मेरा अपना ख्याल है कि वह बाहरी दुनिया की लड़की है। उसे मुक्ति अध्यात्म विधाता से कोई लगाव नहीं है। वह हर जगह बदला चाहती है। इस हाथ ले उस हाथ दे। अगर कोई लेकर नहीं देता तो वह छीन कर ले लेना चाहती

है और ऐसी दुनिया के लोग मुझे कभी पसन्द नहीं रहे। पर रेखा में हम से अलग एक ऐसा भोलापन है जो मुझे बहुत पसन्द है।

वह मन में कुछ नहीं रखती। जो आया सो कह बैठी, कह गुजरी फिर चाहे कुछ हो। यह मन की सहजता मुझे इतनी पसन्द है कि जब वह आती है तो मुझे लगता है जैसे मेरे मन का समस्त तनाव मिट गया है। उसका बात करने का ढंग ऐसा है कि मामूली बात सुन कर भी कभी मन भर आता है और कभी खिलखिला कर हँसने को जी करता है।

हाँ उस दिन जब आई तो उसके ठाठ ही निराले थे। उसके साँवले रंग पर वह हलकी जामुनी साड़ी बहुत भली लग रही थी। उसने माथे पर और माँग में बंगाली औरतों की तरह ही सिंदूर भरा था।

उस रात वह ऐसी लग रही थी जैसे नई दुलहन हो। बात-बात पर मुस्कराती-सी लजाती थी।

मैं मन ही मन सोच रही थी कि बात क्या है ? तभी वह बोली—"मायाजी ! आज मैं आपको एक नई खबर देने आई हूँ।"

"क्या ?"

"जिसके पीछे आज तक दौड़ी आई हूँ सो मुझे मिल गया है।"

"कौन ?"

"बताऊं ?"

"हाँ।"

"मन का मीत।"

"क्या मतलब ?"

"मायाजी ! दुनिया में सब मिल जाता है पर यही नहीं मिलता। रुपया अगर इमानदारी से न मिले तो बेईमानी से तो मिल ही जाता है। दुनिया जिसे राग-रंग कहती है सो भी खरीदा जा सकता है। पर एक चीज ही इस धरती पर दुर्लभ है और वह मैं पा गई हूँ।"

उसकी बात सुन कर भी अब तक मैं नहीं समझ पा रही थी क्योंकि मेरा मन वहाँ था ही नहीं। पर जब उसने मेरे दोनों कंधे झकझोर कर

कहा—"और वह मैं पा गई हूँ।" तब मुझे चेत आया और समझी कि प्राणों की जिस प्यास को लेकर वह छिप-छिप कर कई बार माँ बन चुकी है सो वह प्यास अब बुझने जा रही है। प्यास बुझेगी या नहीं सो कौन जाने पर उसे लग रहा है कि यह जो मन का मीत मिला है उसे पाकर वह पकड़ाई में आ जाएगी। बस इसी अह्लाद ने उसे पागल बना दिया है।

मैं बोली—"रेखा ! कहाँ कैसे पा गई ?"

बोली—"प्यारे मियाँ मुझे एक दिन उनके पास ले गए थे। वह यहाँ एक मंत्री के सेक्रेटरी हैं।"

"प्यारे मियाँ कौन ?"

"यही जो अभी मेरे साथ आए थे। जो अजमेर से मुझे पकड़ कर लाए हैं।"

'अच्छा ! फिर।"

"मायाजी उनको देखते ही मुझे लगा था कि उनमें कुछ ऐसा है जो हर जगह नहीं दिखता। रात के कोई दस बजे होंगे। तब हम उनके यहाँ पहुँचे थे। वे अपने कमरे में बैठे अकेले सितार बजा रहे थे। जब हम लोग पहुँचे तो बड़ी देर तक उन्होंने सिर ही न उठाया। हम थक कर चुपचाप कुर्सियों पर बैठ गए।

उस रात मुझे लगा कि इस धरती पर जीने के कितने सहारे हैं उनमें शायद सबसे बड़ा सहारा यही आर्ट (कला) है।

मायाजी आधा घंटा बीता, पौन घंटा, एक घंटा और धीरे-धीरे पूरे दो घंटे हो गए। उस आर्टिस्ट ने अपना सिर ऊपर की ओर उठाया ही नहीं। सिर उसी सितार पर झुकाए वह बजाए जा रहा था। ऐसा लग रहा था जैसे अँगुली में पहनी मिजराब के सहारे उन तारों में स्वरों का ऐसा संसार रचे जा रहा है जिसमें कभी बादल गड़-गड़ाते हैं, बिजली कौंधती है। तूफान उठते हैं और अन्त में तो मुझे ऐसा लगा जैसे मैं भी उसके रचे संसार में ही उड़ने लगी हूँ। मैं भी उन स्वरों में ऐसी खोई

कि जब उसका बाँया हाथ धीरे से सितार के तुम्बे पर आ पड़ा और मिजराब वाली अँगुली एकाएक रुक गई तो लगा जैसे वह रसभरी उड़ान थक कर धरती पर आ पड़ी है।

तब धीरे से उसने अपना सिर उठाया।

मायाजी! इससे पहले भी मैंने बहुत से सितार वायलिन, स्वर बहार बजाने वाले देखे हैं। हम बंगालियों के घरों में तो हर साँझ की यह बात है पर वैसा मैंने कभी नहीं देखा था।

उसके चेहरे पर न जाने कैसी आभा थी। उसकी पुतलियों पर न जाने क्या छा गया था कि देख कर मैं पागल हो गई। बड़ी देर तक तो ऐसा लगा कि हम लोगों को देख कर भी वह पहचान नहीं पा रहा था।

थोड़ी देर में वह सावधान हुआ और तब धीरे-धीरे वह आभा मिटने लगी। तब दुनिया के लोगों की मामूली हँसी हँसता बोला—"प्यारे मियाँ! अच्छा....अच्छा....।"

वह हँसी इस तरह की थी जैसी बनावटी हँसी हम किसी से भी मिलते समय बिना मन के हँसते हैं और दूसरे को हँसते देखते हैं। सच ऐसी बनावटी हँसी से मुझे बड़ी नफरत है और आज कल तो लगता है जैसे यह भी एक फैशन हो गया है। इसको जो जितनी अच्छी तरह हँस ले मानो वही फैशन की पगडंडी पर आगे बढ़ गया। मैं इस तरह कभी नहीं हँस पाती। ऐसी हँसी से तो मुझे तो एक तरह की चिढ़ है। असल में जब कोई इस तरह हँसता है तो मुझे उसी मंत्री की याद हो आती है। वह भी बात-बात पर वैसी ही हँसी हँसा करता था।

मायाजी वह उठा। सितार एक ओर रख कर अन्दर गया और थोड़ी ही देर में कपड़े बदल कर बाहर आ गया। जब लौटा तो कमरा एक तरह की भीनी खुशबू से भर गया था। उसी से मुझे लगा कि कोरा आर्टिस्ट ही नहीं है, रस भी है। रंग भी है।

आते ही बोला—"कहिए आपकी क्या सेवा करूँ?"

प्यारे मियाँ बोले—"अजी शुक्रिया! इनसे मिलिए मिस रेखा

बनर्जी !"

मैंने उठ कर दोनों हाथ जोड़ कर नमस्कार किया और बगल में देखा उन्होंने भी हाथ जोड़ कर सिर झुकाया है।

उस दिन मुझे लगा था कि औरतों को ले जाकर जो आज के सरकारी ऑफिसरों को भेंट किया जाता है सो उस भेंट करने का भी एक आर्ट है। भेंट करने के भी तरीके हैं। जैसे बड़े घरों में पानी का गिलास तश्तरी पर रख कर दिया जाता है ठीक उसी तरह !"

सुन कर मुझे हंसी आ गई।

तब मुस्कराती वह बोली—"सच, गिलास वैसे ही हाथ में जाकर थमा देने में वह आनन्द नहीं जो सामने पड़ी मेज पर तश्तरी में रक्खे गिलास में है, तब मामूली पानी का भी स्वाद बढ़ जाता है। प्यारे मियाँ ने मुझे भी गिलास की तरह तश्तरी पर रख कर भेंट किया था।

प्यारे मियाँ बोले—"मिस बनर्जी को एक जरूरी काम है। जरूरी काम क्या था। आप तो जानते ही हैं आज कल सभी के घरों में माटी चूल्हे हैं।"

सुन कर वह मुस्कराये फिर वह मुस्कान हँसी में बदल गई। हँसते-हंसते बोले—"प्यारे मियाँ ! आजकल शहरों में मिट्टी के चूल्हे कहीं नहीं दिखते। अब तो घर-घर लोहे की अंगीठियाँ और पीतल के स्टोव जल रहे हैं अब यहाँ मिट्टी के चूल्हे कहाँ हैं।"

सुन कर प्यारे मियाँ बनावटी हँसी हँसते बोले—"आप बजा फरमाते हैं। असल में मिस बनर्जी आजकल बड़ी मुसीबत में हैं।"

सुन कर वह गम्भीर हो गये। बोले—"हाँ, हाँ, कहिए मैं क्या सेवा कर सकता हूँ।" प्यारे मियाँ बोले—'मैंने सुना है आपके यहाँ, आपके ऑफिस में स्टेनोग्रेफर की कोई जगह खाली है।"

खाली तो है पर उस जगह के लिए इन्टरव्यू भी हो चुका है और एक तरह से एपोइन्टमेन्ट भी। बस लिख कर नहीं दिया गया है बात तय हो गई है। और—

बीच ही में प्यारे मियाँ बोले—"वैसे जगह कई हैं। कई लोग आप को बुला रहे हैं पर आप जिस खानदान की हैं और जिस तरह घर में रही हैं और ऐसी आदत पाई है कि हर ऑफिसर के साथ काम नहीं कर सकतीं। बस इसी लिए आपको तकलीफ दी थी।

सुन कर वह मेरी ओर देखने लगा। मैंने भी प्यारे मियाँ के एक्शन में रंग चढ़ाया। ऐसा चेहरा बना लिया जैसे जगह न होने की खबर पाकर मुझे बहुत निराशा हुई है।

तभी वह बोले—"अच्छा, मैं उसे दूसरे दफ्तर में भेज दूंगा। आप कल ऑफिस में आइए। मैं देख लूंगा।" कह कर वह चुप हो गया फिर मुस्कराता बोले—

"कहाँ तक पढ़ा लिखा है ?"

मैं बोली—"बी०ए० करके छोड़ दिया था।"

"आप कल अपनी डिग्री भी लेते आइएगा।"

बीच ही में प्यारे मियाँ बोले—"आपको थोड़ी तकलीफ देनी है। पास ही की कोठी में डाक्टर रहते हैं। कुछ जरूरी काम है। दस मिनट में लौटता हूँ। यह यहाँ रहें तो आपको कोई तकलीफ तो नहीं होगी।"

वह मुस्कराता बोले—"तकलीफ काहे की। आप शौक से जाइए।"

प्यारे मियाँ चले गए और मैं उसके साथ कमरे में चुपचाप बैठी थी।

कुछ देर कमरे में सन्नाटा रहा फिर वही बोले—"आपके माँ-बाप कहाँ हैं ? क्या करते हैं ?"

"माँ रही नहीं। बाप पागल हैं।"

"कितने भाई-बहन हैं।"

"अकेली हूँ।"

"पिताजी कहाँ हैं ?"

"अजमेर।"

"यहाँ आप किसके साथ हैं ?"

"प्यारे मियाँ के साथ।"

"लेकिन वह तो ....।"

"अजमेर गए थे। साथ..... ...।"

"बड़ा भरोसा है आपको........।"

"दुनिया में जब कोई भरोसा नहीं रह जाता तब ....।"

"हाँ, यह तो है ही।"

थोड़ी देर फिर वही सन्नाटा रहा। तब मैंने ही कहा—"आप कहाँ के रहने वाले हैं।"

"मेरा घर देहरादून है।"

"और लोग।"

"और कोई नहीं है। अकेली माँ है। सो वह यहाँ आना नहीं चाहती।"

"क्यों ?"

"यहाँ दिल्ली में उन्हें बहुत तकलीफ है।"

"यहाँ क्या तकलीफ है।"

"असल में वे बहुत पुराने ख्यालों की है। जमादारनी जिस जगह से निकल जाए उस पर बिना छिड़काव के नहीं चलती। जो चीज उसने छू ली वह भ्रष्ट हो गई। आई थीं एक बार। बस इन्हीं बातों से हम दोनों तंग आ गए। चीनी की प्याली कहीं रसोई में पहुँच गई तो खाना बन्द। मुझसे भी इतनी कवायद कराती थीं कि बस...........।"

कहते-कहते उसके चेहरे पर बच्चे जैसी मीठी सहज मुस्कान बिखर गई।

तभी मैं लजाती बोली—"और वे कहाँ है ?"

"वे कौन ?"

"वही, इस घर की मालकिन ?"

"वे अभी आई नहीं।"

"मायके है ?"

"नहीं, उनके पैर अभी इस देहरी पर पड़े ही नहीं।"

"अकेले आपको कैसा····।"

"नहीं अकेला कहाँ हूँ। एक तरह से मैंने शादी कर ली है।"

"कर ली है ?" कहते-कहते मैं शर्मा गई वह मुस्कराते बोले—"हाँ कर ली है।"

सुन कर मुझे लगा कि इनकी किसी से प्यार-प्रीति हो गई है। पर किसी वजह से शादी नहीं हो पाती—

मुझे वह अच्छा लगा था। अच्छा क्या एक तरह से मैं उसके उस एकान्त साथ को लेकर पागल हो गई थी। मुझे असल में ऐसा कभी हुआ ही नहीं था कि जरा-सी देर में किसी के साथ रह कर मन ऐसा हो उठा हो। जब मैंने सुना कि उसकी शादी एक तरह से हो गई है तो बात करते मेरी जीभ लड़खड़ाने लगी। मैंने जैसे-तैसे कहा—"तो शादी क्यों नहीं कर लेते ?"

सुन कर वह मुस्कराये। मुस्कराते-मुस्कराते ही बोले—"बेचारी इतनी भली है कि बिना शादी के भी वह मेरे साथ रह लेती है।"

"कहाँ रहती हैं ?"

"मेरे साथ ?"

"आपके साथ ?"

"हाँ, आपने देखा नहीं। जब आप आई थीं तब मेरे साथ ही तो बैठी थी।"

आपके साथ ? नहीं आप तो अकेले थे तब ?"

"नहीं जी, उसके बिना ऑफिस के आठ घंटे बड़ी मुश्किल से काट पाता हूँ। काम करते-करते भी उसकी मीठी आवाज मेरे कान में गूंजती रहती है। घर आते ही पहला काम यह है कि·········।"

सुन कर मैं लजा गई। समझ नहीं पा रही थी कि अपनी उनको लेकर वह न जाने कैसी बात कह बैठे। न जाने ऑफिस से लौट कर पहला काम उसे लेकर क्या करते होंगे। इसी लिए मैं बीच ही में बोली—"कभी आऊंगी तो मिलूंगी। अभी तो शायद वे सो गईं होंगी।"

सुन कर वह धीरे से हँसते बोले—"सोने की बुरी आदत है। एक तरह से वह सदा सोती ही रहती है। जब जगाता हूँ तभी जागती है।" कहते-कहते उसने अपनी सितार की ओर देखा तब जाकर मेरी समझ में आया कि वे अपनी सितार को लेकर मजाक कर रहे थे। सितार को अपनी दुलहन बता रहे थे। जब बात मेरी समझ में आई तो साड़ी के छोर से मुंह दबा कर हँसने लगी। और हँसते-हँसते ही देखा कि वे मेरी ओर विमुग्ध हो देखे जा रहे हैं।

उनको इस तरह अपनी ओर देखते जानकर जैसे-तैसे मैंने अपनी हंसी रोकी और सिर झुका कर बैठ गई।

बड़ी देर तक कमरे में सन्नाटा रहा। तब वही बोले—"मिस बनर्जी! एक बात पूछूँ?"

"पूछिए।"

'देखिये आज पहली ही बार मैंने आप को देखा है पर लगता है जैसे हमारी जान पहचान पुरानी है। इसी लिए कुछ पूछने की हिम्मत कर रहा हूँ। कुछ बातें ऐसी हैं कि आपही लोग जानती हैं। आप ही की बातें हैं। आप लोग न बताएँ तो हम कुछ भी नहीं समझ पाते। आपसे पूछें तो बुरा तो नहीं मानोगी।"

"जब आपको लग रहा है कि हमारी जान-पहचान नई नहीं है तो पूछते इतना झिझक क्यों रहे हैं।"

मेरी बात सुन कर उनका चेहरा खिल आया। बोले—"हाँ, यही बात है। आप जो खुल कर बात कर लेती हैं। यही है। इस से लगता है। बस यही तो है। लगता ही नहीं कि आप मेरे घर पहली बार आई हैं। असल में आज कल मैं एक बड़ा फैसला करने में लगा हूँ पर आप सोचेंगी पहले ही दिन में कैसी बात कर रहा हूँ।"

कहते-कहते वे चुप हो गए।

मैंने कहा—"काल के हम चक्र में पहला और अन्तिम दिन तो होता ही नहीं चन्द्र बाबू!"

"आपने मेरा नाम भी जान रक्खा है।"

"नाम ही नहीं आपकी बहुत-सी बातें जान रक्खी हैं। हमारे प्यारे मियाँ ऐसे-वैसे आदमी नहीं हैं। आपके स्वभाव, आपकी सब तरह की बातों का पता लगा कर ही मुझे आपके पास लाए थे।"

सुन कर वे फिर मुस्कराए और बोले—'तभी उन पर इतना भरोसा है।"

"हाँ ! आप क्या पूछ रहे थे ?"

"बात यह है कि अब सचमुच ही मैं अकेला रहते-रहते ऊब गया हूँ। जब तक सितार के साथ रहता हूँ समय कट जाता है। यह भी नहीं कहता कि यह सिर्फ जड़ ही है। कभी-कभी तो लगता है कि इस लकड़ी में भी प्राण हैं। सच जिस रोज इसे बिना मन के उठा कर बजाता हूँ तो इसका स्वर तक बदल जाता है और जब मन से बजाता हूँ तो यह भी अपने स्वर में मिठास भर कर ऐसा रस बहाती है कि छोड़ने को जी ही नहीं करता।"

"आप तो अपनी उनमें फिर खो गए।"

मेरी छिपी मजाक उनकी पकड़ाई में आ गई थी। वे एकाएक खिलखिला पड़े और हँसते-हँसते बोले—"इन्हीं में खोकर तो जिए आ रहा हूँ पर अब लगता है कि कुछ और भी चाहिए पर कहीं मिलता नहीं।"

"इस धरती पर पतली-मोटी, छोटी-लम्बी, काली-गोरी, गम्भीर-हँसमुख लड़कियाँ कितनी ही हैं सो छाँटते देर कितनी लगती है ?"

सुन कर वह फिर मुस्कराते बोले—"आप देर की बात कह रही हैं और मैंने सोलह-सत्रह वर्ष की उम्र से छाँटना शुरू कर दिया था पर आज तक नहीं छाँट पाया और अब तो लगता है कि शायद कभी भी न छाँट पाऊँगा।"

"क्यों ?"

इस क्यों को सुन कर वह ऐसे गम्भीर हो गये जैसे मेरे सामने आदमी न होकर कोई मूर्ति आ बैठी हो।

कुछ देर हम चुपचाप बैठे रहे। अन्त में वही बोले—"आजादी के बाद से तो ऐसा लग रहा है कि अब मेरी छाँट नामुमकिन-सी हो गई है। जब मैं सोलह-सत्रह साल का ही था तब अपनी संगिनी के बारे में एक तरह की कल्पना किया करता था। असल में उसके बारे में मेरी कोई बड़ी माँग भी नहीं थी पर अब तो लगता है जैसे वह कहीं रहा ही नहीं। अब तो सब हाथ पसारे घूम रहे हैं। सब माँगने का छोटापन लिए ही आते हैं। देने की शालीनता कहीं दिखती ही नहीं।"

मैं बीच ही में बोली—"अगर कोई देना जानता हो पर बदले में कुछ पाने की आशा भी करे तो कैसा लगेगा ?"

"वह तो होता ही है। पाने की आशा न करे तो उसके देने में भी रस नहीं रहेगा। वह देना भी ऐसा होगा जैसे पत्थर की प्रतिमा के हाथों से हवा का झोंका खाकर फूल झर पड़े हों। उसमें अशीष होती है। पर रोम-रोम कँपा देने वाला रस-भरा समर्पण नहीं होता और बिना उसके मन की तृप्ति नहीं होती।"

"चन्द्र बाबू ! एक लड़की मेरी निगाह में है।"

"निगाह में तो मेरे भी सैकड़ों लड़कियाँ हैं। पर छटनी हो नहीं सकती मिस बनर्जी ! बात यह है कि आजकल एक ऐसी हवा बही है जिसमें सब कुछ बह गया। अब वह कहीं रहा ही नहीं। मिलेगा कहाँ ?"

"क्या मतलब ?"

"मेरा मतलब है कि इस देश की लड़की-नारी ऐसी धीरजवान होती थी जैसे धरती। सब सह लेती थीं।"

मैं बोली—"इसी से तो पुरानी औरत को बहुत सहना पड़ा था और लोग उसे पशु-जमीन के साथ जोड़ कर जुआ के दाव पर भी चढ़ा देते थे। पर आज की नारी अपने को पहचान गई है। अब वह पुरुष के साथ हर कदम पर साथ देने के लिए तैयार है।"

इसी से तो अब उसमें वह नहीं रहा जो पुरुष से अलग कुछ था। अब उसका अपनापन तो खो गया। रह गई हैं पुरुष जैसी सहज

कमजोरियाँ। असल में हम वह चाहते हैं जो हम में नहीं है। जब हम देखते हैं हम में और उसमें कोई भेद ही नही है। तब हमारे मन का खिचाव मिट जाता है। जब वह उस प्रकार का दुराव नहीं रहता तब कुछ नहीं रहता। जिन्दगी में बस एक खोखलापन रह जाता है और कुछ नहीं।"

मैं चुपचाप बैठी सोचे जा रही थी कि जो मेरे सामने बैठे बोले जा रहा है वह मुझे क्या समझता है। क्यों मेरे सामने अपने को धीरे-धीरे इस तरह से खोले जाता है। ऐसा क्या कभी होता है? मेरी इस बात पर कौन विश्वास करेगा कि अपने मन की बात करते-करते उसी रात एक ऐसा मौका आया कि उन हँसोड़ की आँखें छलछला आईं और उन आँसुओं को छिपाने के लिए उन्होंने मेज पर रक्खी सिगरेट की डिब्बी और दियासलाई उठाने के लिए सिर झुका लिया।

सिगरेट जला कर धुआँ उड़ाते बोले—"मिस बनर्जी! आप मेरे लिए न जाने क्या सोच रही होंगी? सोचती होंगी कैसा आदमी है। न जान न पहचान और बोले चला जा रहा है।"

मैं बीच ही में बोली—"ऐसे क्यों बोल रहे हैं। क्या सालों एक-दूसरे के समीप रह कर भी ऐसा नहीं होता जैसे इस लम्बे समय में एक बार भी न मिले हों। जैसे शरीर एकसाथ रहे हों और मन हजारों मील दूर। क्या इसको आप जान-पहचान कहेंगे?"

"हाँ! एक तरह से यही बात मैं कह रहा हूँ। अच्छा! ऐसा क्यों होता है?"

"लगता है आप तो अभी इन्टरव्यू लेने लगे। कल ऑफिस में तैयार होकर आऊँगी।"

सुन कर वह जोर से खिलखिला पड़े। फिर चुप होकर मेरी ओर देखने लगे। मैं उड़ती नजर से उसे देख लेती थी। एक बार ऐसा हुआ कि मन के आकाश में उड़ती उन दो नजरों के पंख एकाएक सट गए और वे दोनों पक्षी एक क्षण में थरथरा कर रह गए।

फिर दो रोज तक प्यारे मियाँ रात के दस बजे मुझे सेक्रेटरी चन्द्रनाथ के यहाँ छोड़ आते और किसी जरूरी काम से चले जाते और तीसरे दिन बिना डिप्लोमा के राजनैतिक पीड़ित की क्वाली फिकेशन लेकर मैं उन सेक्रेटरी के दफ्तर में स्टेनोग्राफर हो गई।

घर गई। बहुत-सी बातें होती रहीं। प्यारे मियाँ मुझे शाम को ६ बजे छोड़ आए थे। कह आए थे कि उन्हें एक जरूरी काम है इसलिए लेने नहीं आ सकेंगे। मैंने कहा था मैं अपने आप आ जाऊँगी और न आ सकी तो उधर ही ठहर जाऊँगी। बात तय हो गई थी। उधर ठहरने का मतलब मैं और प्यारे मियाँ ही जानते थे।

साँझ को जब मैं पहुँची तो चन्द्रनाथ बाबू अपने कमरे में चुपचाप लेटे थे। मैं सीधी उनके कमरे में गई। जब प्यारे मियाँ चले गए तो मैं ने उनसे कहा—"एक बार देख आऊँ कि बिना उनके आप लोग कैसे रह लेते हैं।" कहते-कहते मैं अन्दर चली गई।

एक कमरे में उनके मैले कपड़े बिखरे पड़े थे। एक में किताबें इधर-उधर पड़ी थीं। दवात का ढक्कन अलग, कागज बिखरे, किताबें अस्त व्यस्त, मतलब यह कि मैं उनका सारा घर सँवार आई।

रसोइया जो खाना पका रहा था उसमें ऐसी सब्जियाँ पका रहा था जो शाम को नहीं होनी चाहिएँ। न रायता न चटनी, बस एक सब्जी और रोटी दाल बनाने जा रहा था। मैंने अपने पास से उसे रुपये दिए और नए दो साग, दाल, रायता, चटनी बनाने के लिए कह दिया।

यह सब करके मैं उनके कमरे में आकर बैठ गई। थोड़ी देर मैं उन से इधर-उधर की बातें करती रही। इसी बीच मुझे लगा कि वे थके हुए हैं। मैं उनकी रसोई में गई। वहाँ देखा कुछ शर्बत की शीशियाँ रक्खी हैं पर लगता था कि इन्हें खोल कर शर्बत बनाने और पिलाने वाला वहाँ नहीं है इसीलिए वे जहाँ की तहाँ ज्यों की त्यों बन्द पड़ी हैं। मैंने उन में से बादाम के शर्बत की बोतल उतारी और एक गिलास शर्बत बनाकर ले गई। वे मुस्कराते बोले—

"क्या लाई हैं ?"

मैंने कहा—"इतना तो थक गए हैं कि बोला तक नहीं जा रहा। लीजिए यह पी लीजिए।"

सुनकर वे मुस्कराने लगे। शर्बत पी कर वे फिर उसी तरह चुपचाप बिछौने पर लेट गए। पर उनका वह मुस्कराना बन्द नहीं हो रहा था। मैंने पूछा—

"चन्द्र बाबू! क्या बात है। अपने आप ही मुस्कराए जा रहे हैं। मैं भी तो जानूँ। आखिर बात क्या है?"

"पहले जाकर एक गिलास शर्बत बना कर और लाओ। यहाँ एक गिलास से क्या होगा?"

सुनकर मैं लजा गई। सोचने लगी, एक गिलास पिलाकर मुझे दूसरे के लिए भी पूछना चाहिए था। मैं दौड़ी गई और दूसरा बना लाई। जब शर्बत का गिलास हाथ में लेकर उनके समीप जा खड़ी हुई तो उठ कर बैठ गए और गिलास अपने हाथ में लेकर बोले—

"कुर्सी खींच लाओ। यहाँ बैठो मेरे सामने। समझीं!"

यह 'समझीं' उन्होंने बड़े मार्मिक ढंग से कहा था। उस ढंग में जो और कुछ छिपा था सो भी मैं अच्छी तरह समझ गई। मैं अन्दर ही अन्दर सिहरती गई और कुर्सी खींच कर उनके समीप ले गई। जब कुर्सी पर बैठ गई तो वह शर्बत का गिलास मेरे सामने करके बोले—

"लो चटपट पी जाओ।"

यह बात उन्होंने ऐसे स्नेह में भर कर कही थी जैसे कोई बड़ा अपने बच्चे से कहा करता है। कई बार मेरे मन में हुआ कि पीने से मना कर दूँ पर जिस तरह से उन्होंने कहा था सो किसी भी तरह मैं टाल ही न सकी। मैंने चुपचाप वह गिलास लेकर शर्बत पी लिया।

मैं शर्बत पीते-पीते उनकी ओर देख रही थी। उनकी वह मुस्कराहट बढ़ती ही जा रही थी। उस मुस्कान में केवल स्नेह ही नहीं था उसके साथ एक प्रकार की शैतानी भी छिपी थी।

जब शर्बत पीकर मैं गिलास लेकर जाने लगी तो बोले—

"रहने दीजिए। रामलाल ले जाएगा।" मैंने नहीं सुना। गिलास रखकर जब लौटी तो देखा। वे छत की ओर देखते चुपचाप लेटे हैं पर वह शैतानी भरी मुस्कराहट ज्यों की त्यों थी।

मैं जब कुर्सी पर बैठ गई तो बोले—"आप ने प्रेमचन्द को पढ़ा है?"

"हाँ कुछ किताबें पढ़ी हैं।"

"उनकी 'परीक्षा' कहानी पढ़ी है।"

"जिसमें किसी नौकरी की इन्टरव्यू होती है और जो किसी किसान की कीचड़ में अटकी गाड़ी को अपनी मदद से बाहर निकलवा देता है फिर उसी स्टेट की मैनेजरी मिल जाती है।"

"हाँ-हाँ, वही।"

"वह मैंने पढ़ी है।"

"मिस बनर्जी ! वह स्टेट की मैनेजरी का इन्टरव्यू था और आज इस घर की मैनेजरी का इन्टरव्यू मेरे यहाँ था उसमें एक ही आई थी। मैंने पूरे नम्बर देकर उसे पास कर दिया है।"

सुनकर मैं तड़प गई। मैं समझी कि आज कोई आई होगी और इन्होंने उसे चुन लिया है।

मेरे चेहरे पर जो आया उसे उन्होंने पहचान लिया था। पहचाना यही था कि उनकी बात मुझे अच्छी नहीं लगी है।

तब वे उस बात को छोड़ कर दूसरी बातें करते रहे। तभी उनके रसोइया रामलाल ने आकर कहा—

"खाना तैयार है। लगा दूं मेज पर ?"

वे 'हाँ' कह कर मुझे भी अपने साथ जाने के लिए कहने लगे। मैं उनके डायनिंग रूम में गई। हम दोनों मेज के पास आमने-सामने बैठे खाने की प्रतीक्षा कर रहे थे। तब उन्होंने उस कमरे की ओर देखा। देखते ही उस फर्क को पहचान गए जो मेरे आने से पहले और बाद में हो गया था। वे उठे और सारे कमरों में चक्कर काट आए। जब लौटे

तो उनका चेहरा गम्भीर था। वह शैतानी भरी मुस्कान बिलकुल मिट गई थी।

मैं उनके गम्भीर चेहरे को देखकर मन ही मन सोचने लगी—"यह क्या बात है ? कमरों को बदला हुआ, सजा हुआ देखकर इन्हें खुश होना चाहिए था। ऐसे गम्भीर क्यों हो गए ?"

तभी रामलाल खाना लाया। जब मेज पर उसने साग-सब्जी, रायता-चटनी लाकर रख दीं तो वे बोले—

"अरे ! आज तुझे हो क्या गया है ?"

वह डरता-सा बोला—"क्यों हुजूर ! मैं तो ठीक हूँ।"

"अरे ! यह सब बनाने की तुझे आज कैसे सूझी ?"

मेरी ओर इशारा करके बोला—"मेमसाहब ने कहा था ?"

"ओह कहकर वे चुप हो गए। उन्होंने एक बार भी मेरी ओर नहीं देखा। खाना भी हम दोनों ने चुपचाप हीं खाया।

जब खाना खा-पीकर वे कमरे में आए तो मैंने उनकी सिगरेट की डिब्बी से सिगरेट निकाल कर बढ़ाई। उन्होंने चुपचाप सिगरेट अपने होठों में दबा ली जब दिया सलाई के लिए निगाह उठाई तो मैंने जला कर दिया सलाई उनकी सिगरेट के छोर की ओर बढ़ा दी।

जब उनके चेहरे की ओर देखा तो लगा कि वह काला पड़ गया है। वे सिगरेट पीते-पीते चुपचाप बिछौने पर लेट गए। धुआं उड़ाते छत की ओर देखे जा रहे थे।

तभी मैं बोली—"अच्छा, चन्द्र बाबू ! चलती हूँ।"

सुनकर वे चौंक पड़े। मेरी ही बात को अचरज से दुहराते बोले—"चलती हूँ !"

"हाँ जी, चलना ही चाहिए। चुपचाप बैठी यहाँ क्या करूँ ?"

सुनकर उनके चेहरे की वह कालिमा सहसा मिट गई। सहज मुस्कान बिखरते बोले—"मिस बनर्जी ! एक बात पूछूँ ?"

"पूछिए।"

"मैंने जब कहा था कि एक को आज मैंने इन्टरव्यू में पास कर दिया है। वह इस घर की मैनेजरी की इन्टरव्यू थी तब आप चौंक कर उदास क्यों हो गई थीं ?"

सुनकर कुछ देर तो मैं चुप रही फिर जैसा मेरा स्वभाव है मैं बोल ही पड़ी—"उदास होने की तो बात ही थी। जिस जगह की उम्मेदवारी में आई थी उसमें पहले से ही कोई पास होकर चली गई। हाथ से जगह निकल जाने का अफसोस तो सभी को होता है चन्द्र बाबू !"

कहते-कहते मैंने उनकी ओर देखा। वे किसी तरह हँसी रोके सुन रहे थे। मैंने जैसे ही बात खत्म की तो वे एक ठहाका मार कर हँस पड़े।

हँसते-हँसते ही बोले—"और मैंने समझा कि आपको अपना पास होना पसन्द नहीं आया है। मतलब कि.........।"

"मतलब मैं समझ गई। इसीलिए तब से चुप्पी साधे पड़े थे।"

सुनकर वे मेरी ओर विमुग्ध दृष्टि से देखने लगे और मैं लजाती-सी बार-बार उन्हें देख रही थी।

तभी मैंने देखा कि उनकी आँखें छलछला आई हैं। भर्राये धीमें कण्ठ से बोले—"मिस बनर्जी ! बचपन से सोचता आ रहा था कि मेरी माँ रात के चार बजे उठकर क्यों सर्दी-वर्षा गर्मी में स्नान करती थीं। क्यों घंटों बैठी माला जपती थीं। मेरी माँ के जीवन में मेरे सिवा कोई नहीं है। नहीं था। वह सब जप-तप मुझी को लेकर था। मैं उस बात को सिर्फ उनकी झक समझता था और आज लग रहा है जैसे उस जप-तप का सारा फल अचानक पा गया हूँ।"

मैं बोली—"कब कहाँ कैसे पा गए ?"

सुनकर मुस्कराते बोले—"तब जब किसी ने मेरे जूठे गिलास में शरबत पी लिया था।"

सुनकर मैंने अपनी हथेलियों से अपना चेहरा छिपा लिया था। उस चेहरे छिपने में किसी तरह का मैंने एक्शन किया हो सो बात नहीं थी।

बात यह थी कि शरबत पीने से पहले ही उन्हीं के गिलास में पीने की कल्पना मात्र से मैं सिहर गई थी। मैं नहीं जानती मायाजी! आप मेरी बात समझ पाएंगी कि नहीं। सच, इस तरह किसी के जूठे गिलास से पीने और दूसरे को पिलवाने में जो एक तरह की आन्तरिक एकता का आनन्द होता है सो आप ने कभी जाना, समझा है या नहीं पर मैंने जाना था—और उसी बात को जब उन्होंने कहा तो मैं मारे लाज के मर गई।

मैं समझती थी कि उन्होंने गलती से मुझे उसी जूठे गिलास से पीने को कहा था। अब मेरी समझ में आया कि तब उनकी मुस्कान में छिपी शैतानी का क्या मतलब था।

माँ के जप-तप को लेकर
जो बात उन्होंने कही थी ।
उसको सुनकर भी मैं ऐसा पाप
किए जा रही हूँ जिसे भगवान् कभी
माफ नहीं करेगा। तब से यही सोचे जा
रही थी कि जिस बात को, मुझे पा जाने को
इतना बड़ा मान कर चल रहे हैं सो जिस दिन
जानेंगे कि मैं चकले में रहने वाली सिर्फ एक वेश्या हूँ और प्यारे मियाँ
ने मुझे इस लिए भेजा है कि
घर का माल-मता खींचकर उस
के हाथ में थमा दूँ—तब—तब क्या
होगा। आज जिस बात को अपनी माँ

२०

के सारे जीवन में किए गए जप-तप का
फल मान रहे हैं तब—तब क्या मानेंगे ? तब
क्या होगा ? बस इसी बात को लेकर मैं उदास
हो गई। तभी वह रसोइया आया और जाने की इजाजत माँगने लगा।
वह चला गया और चन्द्र बाबू ने कोठी का दरवाजा अन्दर से बन्द कर

लिया। आकर बोले—"मिस बनर्जी ! आज घर मत जाइए।"

"क्यों ? अभी तो दस ही बजे हैं।"

"सो तो है पर आज की रात मेरी जिन्दगी की पुण्य-रात्री है। आज मैंने जो पाया है सो अकेले नहीं भोगना चाहता। मान जाइए। आज मत जाइए।"

"आप इतना क्यों कह रहे हैं चन्द्र बाबू मैं तो आप के एक संकेत पर ही रुक सकती हूँ। बस ठीक है—नहीं जाऊंगी।"

सुनकर वे मेरी कुर्सी के पीछे आकर खड़े हो गए। उन्होंने कुर्सी के किनारे अपने हाथों में पकड़ रक्खे थे और मैं बार-बार उड़ती निगाह से उन गोरी अँगुलियों को अपने दाएं-बाएँ देख लेती थी। सच, मैं अन्दर ही अन्दर मरी जा रही थी। मरी जा रही थी उस क्षण की प्रतीक्षा में जब वे गोरी अँगुलियाँ जड़ लकड़ी पर से उठकर मेरे बालों में उलझ जाएँगी, जब........जब।

और तभी मैंने देखा दाएँ हाथ की अँगुलियां रह-रह कर कांप जाती हैं। और मेरे कानों ने सुना—

उनकी आवाज भर्राई हुई थी। काँपते कंठ से कह रहे थे—"मिस बनर्जी ! मुझे माफ कर देना।"

"............।"

"मिस बनर्जी।"

"जी !"

"भरोसा रखिए। मैं आपका अपमान नहीं कर रहा हूँ।"

"जी !"

"देखो, सुनो, मेरे यह हाथ, मेरी ये अँगुलियां इतनी मैली हैं कि मैं तुम्हें छू भी नहीं सकता। मिस बनर्जी ! मैं बहुत बुरा आदमी हूँ। बहुत बुरा !"

"जी।"

"मेरी इन अंगुलियों ने जाने कैसे-कैसे कीड़े-मकोड़ों को छुआ है।

ठंडी राख में सने हैं, गर्म भट्टियों में जले हैं। मैं सालों बाजार की औरतों के साथ रहा हूँ। शायद तुम्हारे प्यारे मियाँ को यह खबर कहीं से लग गई है। इसीलिए वे तुम्हें धोखा देकर मेरे पास लाए हैं। जब जानेंगे कि मैं तुम्हारे प्रेम में पड़ गया हूँ तभी मुझे से रुपए-पैसे की माँग करेंगे।

नहीं मिस बनर्जी ! मैं दुनिया को धोखा दे सकता हूँ पर तुम्हें नहीं दे पाऊँगा.........नहीं.......।" कहते-कहते वे बिछौने पर जा पड़े।

बड़ी देर तक मैं अपनी कुर्सी पर बैठी रही। जब-तब उनकी ओर देख लेती थी। उनके चेहरे पर वैसी ही क्लेश की आभा थी जैसी उस पहली रात में देखी थी। जब सितार बजाने के बाद उन्होंने मेरी ओर देखा था।

सच, वह आभा ऐसी थी कि जिसे देखकर मैं उसी दिन पहले क्षण ही मर मिटी थी पर उस दिन के बाद वह फिर कभी देखने को नहीं मिला। उसी को एक बार देख लेने के लिए मैं मरी जा रही थी। जब वही उनके चेहरे पर छा गई तो मैं अपनी कुर्सी से उठ कर उनके बिछौने पर जाने के लिए ऐसी चली जैसे किसी के बीन में बँधी हिरनी जाती है।

मैं उनसे सटती बिछौने पर बैठ गई।

तभी उन्होंने अपने नीचे के होंठ एक बार दाँतों से दबाए फिर उन ओठों के साथ लम्बी उसाँस छोड़ कर बोले—"नहीं जानती तुम मेरी बात पर भरोसा करोगी कि नहीं ! सच कहता हूँ मैं अंदर से बुरा नहीं रहा। मैं तब वहाँ गया था जब मैंने अच्छी तरह जान लिया था कि इस धरती पर अब मेरे खोए प्राण कहीं नहीं मिलेंगे।" कहते-कहते उनका सारा शरीर थर-थरा गया। फिर एक वैसी ही दबी उसाँस छोड़ते बोले—"बोलो, तुम अब तक कहाँ छिपी बैठी थी ? पहले क्यों नहीं आई। बोलो—क्यों तुमने मेरा नाश होने दिया। क्यों तुमने मुझे मिट जाने दिया ?"

मायाजी ! बोलते-बोलते उनकी वह आभा सहसा ऐसी गहरी हो

गई थी जैसे सुबह-ही-सुबह कालिमा को चीर कर आकाश में एका-एक उजाला फूट पड़ता है।

उस क्षण उनका चेहरा उसी तरह भोला—मोहक और पावन लग रहा था जैसे पूनम की रात का भोर !

मायाजी ! उस चेहरे को देखते-देखते ही मैंने पहली बार जाना था कि हम लोगों के अन्दर भी कहीं किसी ठौर विधाता कैसा तूफान छिपा कर रख देता है। हाय, तूफान में कब कैसे कहाँ उड़ गई सो मुझे कुछ पता नहीं। बस लग रहा था किसी तूफान में उड़ कर मैं ऐसी दुनियाँ में जा पहुँची हूँ जहाँ न धरती है न आकाश ! न रंग है न आकार। कुछ भी तो नहीं सूझ रहा था। बस कान सुने जा रहे थे—

सावन की रात में बरसते पानी की रिम-झिम अभिसार के लिए पग बढ़ाती राधा के पैरों में बँधी पायल और उसकी धीमी रुन-झुन—दूर किसी झुरमुट में बैठे बंशी बजाते कन्हैया की आवाज !

झुरमुट के पत्तों से टपकते पानी की टप-टप, धरती पर बिछी कुचली घास के बिछौने की मदमाती गंध।

जब दूर कहीं घंटाघर की घड़ी ने टन-टन करके चार आवाजें कीं और शान्त हो गई तब लगा जैसे वर्षा की वह रसीली रात बीत गई है। न कहीं पत्तों से टपकते पानी की टपटप है और न हरी कुचली घास की मदमाती गंध !

मेरी आँखों ने देखा अपनी बाहों में भरे चन्द्र बाबू मुझे ऐसी आँखों से देख रहे थे जिसमें क्लेश की आभा कम और अपराध की लाज अधिक थी।

तभी मैं धीमे से बोली—"चन्द्र बाबू ! हम लोग न कभी अपना पुन्य जताते हैं और न कभी अपने मन का पाप ! सदा चुप रहते और जो मिलता है उसी को पाकर चुपचाप जीते जाते हैं पर मुझे आज लग रहा है कि मैं चुप नहीं रह पाऊंगी। देखो, मैंने कभी भगवान को नहीं जाना—कभी जप-तप नहीं किया पर आज उसके पहले जब आपने मुझे

'राधा' कह कर पुकारा तो उस एक शब्द ने ही मेरे अन्दर बैठी न जाने किस जन्म की राधा को जगा दिया था ।

चन्द्र बाबू ! मैंने वह सब पाया—उसी तरह मेरे रोम-रोम ने उसे मेरे अन्दर समा लिया जैसे कभी किसी अभिसार की रात में राधा ने साँवरिया की गोद में मुँह छिपा कर पाया होगा ।

अब लगता है कि जैसे भगवान ने मुझे इसी रात के लिए सिरजा था नहीं तो आज तक सिवा भटकन के मैंने कुछ नहीं जाना-कुछ ....।" कहते-कहते मायाजो न जाने क्या हुआ । मेरा गला एक दम रुँध गया जैसे किसी ने अंदर ही अंदर दबा दिया हो ।

तब चन्द्र बाबू मेरे गाल थप-थपाते बोले—"अच्छा, बस अब रहने दो ।"

मैं जैसे-तैसे उसी रुँधे दबे गले ले अपनी सारी ताकत लगा कर बोली—"मेरे देवता ! मुझे उठा कर फेंक दो । अपने हाथों से मेरा गला दबा दो । इतनी जोर से-इतनी जोर से—कि फिर मैं अपनी विष भरी दूसरी साँस न छोड़ पाऊँ —दबा दीजिए चन्द्र बाबू ।" कहते-कहते मैंने उनकी दोनों हथेलियाँ पकड़ कर गर्दन पर दबा लीं । सच मैं चाहती थी कि कैसे ही उनकी वे अँगुलियाँ मेरे प्राणों को खींच लें ।

वे घबरा कर उठ बैठे । मेरा सिर अपनी गोदी में रख कर बोले—"यह तुम्हें क्या हुआ है ? क्या कर रही हो ?"

उनकी ओर बिना देखे ही मैं पलट गई । सिर मैंने उनकी गोद में छिपा लिया । मैंने बहुत चाहा कि जो अंदर भरा है उसे कैसे भी छिपा जाऊँ पर मायाजी ! वह मेरे वश की बात ही नहीं रही । आवाज तो मैंने नहीं दी पर मारे रुलाई के काँप-काँप कर मेरी पीठ ऊपर की ओर उठ जाती थी । और उसी पागलपन और मन के क्लेश में मैं कह बैठी—

"मुझे मार डालो चन्द्र बाबू ! मैंने तुम्हें धोखा दिया है ! प्यारे मियाँ दलाल हैं और मैं हूँ वेश्या !"

कह कर मुझे लगा जैसे किसी फाँसी के फंदे को मैंने अचानक अपने

गले में फँसा लिया है। मैं इन्तजार कर रही थी उस झटके का जो एक 'खिच्च' के साथ गर्दन की हड्डी तोड़ कर प्राण हर लेता है पर बात बिल्कुल उल्टी हुई। मुझे लगा कि किसी भूकम्प में वह फाँसी घर, वह फाँसी का फँदा सब एका-एक माटी में मिल गये हैं और सहसा उस भूकम्प के शान्त होते ही आकाश से फूल झर उठे हैं।

मायाजी मुझे लगा कि उन फूलों की वर्षा में कहीं किसी बर्फीली चोटी पर हेमेन्द्र हिमानी को अपनी बाहों में भरे एक-एक पग उठाए धीरे-धीरे चला जा रहा है।

तभी मेरे कानों के देवता बोले—"वेश्या मर गई। तुम मेरे मन की गंगा हो। मेरी जन्म-जन्म की प्यास। मायाजी! जिसके लिए कितने सालों से, कितने जन्मों से भटक रही थी। सो वही कल रात पा गई हूँ।" कहते-कहते उस रेखा ने मेरे कंधे झकझोर डाले और मैं अपने में ही डूबी देख रही थी उस सदा-सुहागिन के माथे की मंगल बिंदिया और माँग में भरा सुहाग-सिंदूर।

Fill in the blanks.

वायु में बहता है ——

कलियों पर गिरता है ——

तुम को मुझसे प्यार है ——

रेखा जब चली गई तो
मुझे लगा जैसे किसी तूफान
में हम सब की नावें इधर-उधर
भटक रही हैं। तूफान चल रहा है और
रेखा किसी तरह अपनी नाव को निकाल
ले गई है। वह किनारे पर खड़ी मुस्करा
रही है। मैं, मिन्नी और न जाने कितनी
नावें अब भी उस तूफान में एक-दूसरे से टकराती हर पल, हर क्षण
विनाश के मुंह में समा जाने
के लिए इधर-उधर भटक रही हैं
और पता ही न चला कि मेरी पलकों
पर कब नींद आकर छा गई है। रात-
२१
भर न जाने कैसे-कैसे सपने देखती रही।
फिर रात के पिछले पहर में जो सपना देखा
सो देख कर मैं कांप गई।

मैंने देखा लाल कपड़े पहने कुछ लोगों ने उस सेठ को बाँध लिया है और पहाड़ के ऊपर से नीचे धकेल रहे हैं। वह सेठ इतने जोर से

चीख रहा है कि उसकी आवाज दिग-दिगन्त से टकराती उन पहाड़ों की कोह-कन्दराओं को कँपाती मेरे कानों में आ-आ कर समाए जा रही है।

जब मैं हड़बड़ा कर जागी तो लगा कि सपने में जो आँखों से देखा था सो मिट गया है पर कानों में अब भी वही आवाजें गूंज रही हैं जो थोड़ी देर पहले सुनी थीं।

तभी किसी ने कुंडा खटखटाया। मैंने उठ कर साकल खोली तो देखा वह मुटल्ली रमजानी उदास खड़ी है। उसका मुंह सफेद पड़ गया है। मेरे पास आकर धीमे स्वर से बोली—"बेटी सुना तुमने ! अखबार वाला क्या चिल्ला रहा है। तभी मेरे कानों में आवाज आई। गली में अखबार वाला छोकरा चिल्ला रहा था—"रामपाली के हत्यारे ने दूसरा खून कर दिया। सेठ की हत्या करके हत्यारा फरार।"

सुन कर मुझे लगा जैसे उस तूफान में मेरे नाव की पतवार एका-एक मेरे हाथों से छूट गई है।"

उसके बाद कितनी ही बातें हैं। सुख की दुख की पर उसके बाद तो मैंने यही जाना जैसे मेरी काया मुझ से छूट गई है।

रमजानी ने मुझ पर रहम खाकर एक बूढ़े उस्ताद को बुलाया—मुझे नाचना सिखाने की कोशिश की। जब नहीं सीख पाई तो गाने के उस्ताद को बुलाया—उसने गजलें गाना सिखाया, ठुमरी सिखाई और उसके बाद वही होने लगा जो चकलों में होता है। लोग आते, गाना सुनते और वाह-वाह होती। मेरी काया उन्हें अपने हाथ से पान खिलाती। वे एक-एक करके उठ जाते। कमरा सुनसान होता और यह काया बिछौने पर पड़ जाती। पलकें मुंद जातीं, भोर होती, सूरज निकलता, रात होती, काया का शृंगार, गीत, गजलें और धीरे-धीरे दीए का रस बूंद-बूंद चुकने लगा। फिर डाक्टर, बुखार, खाँसी, राख सब चले गए। जो पास था सो अनाथालयों में भेजती रही, कोढ़ियों की बस्ती में, फिर सब कुछ समाप्त, लम्बे दिन, न कटने वाली लम्बी रातें।

धीरे-धीरे दीए की बाती भी निबट गई। काया बिछौने में पड़ी थी

और मेरी आत्मा उससे दूर बैठी हर क्षण, प्रति पल उस काया को सुनाए जा रही थी—

"तोहि जाना राम नगरिया रे !"

*　　*　　*　　*

उस दिन एक ऐसी गल्ती कर बैठी कि तब से यही सोचे जा रही हूँ कहीं वह पत्र पढ़ कर आ गई तो—मैंने उसमें अपने यहाँ का पता क्यों लिखा। क्यों चाहा कि मरने से पहले एक बार अपनी उस लाड़ली सुजाता को देख लूँ।

आज समझ पा रही हूँ कैसी है इस मन की माया। यह प्राणों की प्यास ! जब सब कुछ ही बीत गया तब भी इस काया में अंदर ही अंदर न जाने कहाँ किस कोर में यह एक साध कहीं पड़ी-पड़ी सिसक रही थी कि जिसे आज तक अपने सूने क्षणों में याद कर-करके जीती आ रही हूँ। उसे एक बार देख पाती ! बस।

*　　*　　*　　*

उनके लिए कुछ नहीं लिखूँगी। वे तो सदा सर्वदा मेरे समीप हैं। वही तो हैं जिन्होंने मेरी इस काया को केंचुली की तरह मेरी इस आत्मा से उतार फेंका है। दिन-रात यहाँ पड़ा-पड़ी यही सोचती रहती हूँ कि कब वह क्षण आए, कब वह पल आए जब विटप से टूटे पत्ते की तरह उड़ कर उनके चरणों के समीप जा पड़ूँ।

*　　*　　*　　*

आज अभी-अभी आँख झपक गई थी। देखा वही सामने खड़ी है। कह रही है—"दीदी ! मैं आ गई।"

जब पुतलियों पर से थके पलक उठे तो देखा किवाड़ बंद हैं। वही काली मनहूस साँकल ज्यों की त्यों कुंडे पर रक्खी है।

*　　*　　*　　*

लग रहा है जैसे सामने की साँकल धुंधली होती जा रही है। दीवालों मे वे गंदे चित्र ओझल होते जा रहे हैं। जैसे मेरे चारों ओर अँधियारी

का समुद्र उमड़ता आ रहा है और मैं धीरे-धीरे उसमें समाती जा रही हूँ।

उस अँधियारी के समुद्र में दूर········बहुत दूर एक प्रकाश-स्तम्भ को देख रही हूँ एक श्वेत नाव। उस पर लहराता दूधिया पाल।

उसमें बैठे जो दिख रहे हैं उन्हें देख-देख कर बार-बार माथा झुक जाना चाहता है पर झुका नहीं पाती। लगता है इतने दिनों से जो बाती जली जा रही थी सो बुझ गई है। बाती की राख न उठ सकती है न हिल सकती है। दीया बुझ गया है। न बाती है न रस की बूँद। शेष है उस बाती की भस्म। उसके चारों ओर घना अंधकार। उदास हाहाकार!

तभी लगा जैसे उस अंधकार में सहसा बिजली कौंधी है और उस कौंध में मैंने देखा—मेरी काया उन्हीं महात्मा के समीप जा बैठी है।

एक चोकी पर महात्मा उसी बसन्त पंचमी की तरह बैठे मेरे सिर की माँग पर मंत्र पढ़-पढ़ कर जल के छींटे बिखेरे जा रहे हैं और मुझे लग रहा है जैसे वासन्ती हवा में उड़ते—

न वे जल-बिन्दु हैं!

न पराग-भरी सुनहली धूल!

इन क्षणों में मेरी आत्मा ललचाई आँखों से पलक झपकाती दूर खड़ी देख रही है उन महात्मा की अँगुलियों से झरता अपनी सूनी माँग पर सुहाग-सिंदूर।

*　　　*　　　*　　　*

सुजाता ने आगे पढ़ने की कोशिश की पर पढ़ न सकी। उसकी दीदी ने अपनी डायरी में उसके बाद अपनी काँपती अँगुलियों से जो लिखा था सो वह कुछ भी न पढ़ पाई।

तब दीदी की वह डायरी चिपटाए बड़ी देर तक चुपचाप जहाँ की तहाँ पड़ी रही।

परिशिष्ट—

उसके बाद कहने को कुछ भी शेष नहीं है। जिसे मैं बचपन से जानती थी। जिसका क्लेश बचपन से मैंने जाना था जब वही चली गई तो लगता है जैसे दीप बुझ गया है और बुझे दीप की बाती से लहराती धुएं की लहरें ही मेरे चारों ओर सदा छाई रहती हैं।

अब तो सिर्फ इतनी सी बात कहनी है कि सुजाता जब अपनी दीदी की डायरी पढ़ चुकी तो उसने देखा कि किसी ने जोर-जोर से कुंडा खटखटाया है।

सुजाता ने कुंडा खोला तो देखा माँग में सिंदूर और माथे पर गोल बिंदिया लगाए कोई आ खड़ी हुई हैं।

सुजाता को पहचानते देर नहीं लगी। उसने गीले स्वर में कहा—"आप रेखाजी है ?"

"आप कौन हैं ?"

"मायाजी मेरी दीदी थीं।"

सुनते ही गंगा-जमुना ने मिलकर उस कमरे को प्रयाग का पुण्य तीर्थ बना दिया।

जब रेखा को सुजाता ने अपनी विवशता की कहानी सुनाई तो बोली—"तुम घबराना नहीं मैं अभी आती हूँ।" कह कर सीढ़ियों पर धड़धड़ाती चली गई।

और आधे घंटे में ही उस चकले को पुलिस के ऑफीसर तथा सिपाहियों ने घेर लिया। रेखा अपने पति चन्द्रबाबू के साथ आई और सुजाता को अपने साथ ले गई। दूसरे दिन सुजाता और रेखा ने मिन्नी को भी बुला लिया।

एक घर है जिसमें—रेखा वधू है !

सुजाता घर नहीं लौटी। यूनीवर्सिटी में पढ़ रही है।

मिन्नी को घर के काम-काज से फुर्सत नहीं है।

और सबसे बड़े अचरज की बात यह हुई कि चन्द्रनाथ की माँ का जप तप—छुआ-छूत सब छूट गया है ! बस गीले स्वर में बनावटी क्रोध दिखाती जब-तब बिना बात के जिस-तिसको डाँटती रहती हैं।

उस डाँट के बदले में जब कोई मुस्करा देती है तो माँ का गोरा चेहरा मारे आनन्द के ईंगुरी हो उठता है।

तब कुछ कहने के लिए उनके होंठ थरथराते है पर कुछ भी कह नहीं पातीं।

एक घर है जिस में—

रेखा वधू है।

—और

—मिन्नी मालकिन।

JEETENDER.

RAINA.